लोकतंत्र का भिक्षु गीत

अति-उपेक्षित दलितों के अध्ययन की एक प्रस्तावना

बद्री नारायण

लम्बे समय तक किये गये कठिन संघर्ष के बाद दलितों के एक वर्ग का राजनीतिक सशक्तीकरण हो पाया है। लेकिन, आज़ादी के बाद भारतीय समाज के लोकतांत्रिक दायरे में दलितों के शामिल होने की प्रक्रिया अब भी द्वंद्वात्मक अंतर्विरोधों से भरी हुई है। इस आलेख में हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि किस प्रकार लोकतंत्र एक तरफ़ अपने अधिकारों की बुलंद दावेदारी कर रहे सीमांत को राजनीति और प्रशासन में शामिल करता है, और दूसरी तरफ़ अपेक्षाकृत कमज़ोर, महत्त्वहीन और छोटे दलित समूहों को लगातार सीमांत की ओर धकेलता जाता है। यह प्रक्रिया भारत में लोकतंत्र की कार्य-शैली का एक सह-उत्पाद बन गयी है। इस लेख में यह देखने की कोशिश की गयी है कि लोकतंत्र के प्रसार और रिसते हुए नीचे जाने की प्रक्रिया में किस प्रकार दलितों में कुछ समुदायों को ज़्यादा प्रतिनिधित्व मिला, जबकि अनेक (उत्तर प्रदेश में 62 दलित जातियाँ) अब भी लोकतंत्र की कुंडी खटखटाने की क्षमता विकसित नहीं कर पायी हैं। हमारी चिंताओं

से दूर ये अदृश्य दलित समूह अब भी 'उपस्थिति की राजनीति' दिखाने की आत्मशक्ति विकसित नहीं कर पायी हैं। इस आलेख में यह भी समझने का प्रयास किया गया है कि वे कौन से तत्त्व और कारण हैं जो किसी उपेक्षित समूह को राजनीति और लोकतंत्र की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण बना देते हैं, और उन्हीं तत्त्वों के अभाव में कई समूह और ज़्यादा सीमांत की ओर धकेल दिये जाते हैं।

I

इलाहाबाद से 25 कि.मी. दूर लखनऊ की दिशा में बढ़ने पर एक गाँव है साहबपुर। एक सुबह हम लोग उस गाँव में क्षेत्र-अध्ययन (फ़ील्ड वर्क) के लिए गये थे। हमने देखा एक भिखारी हाथ में टीन का कटोरा और एक छड़ी लिए, सिर पर एक फटी गंदी टोपी लगाये, लम्बा चोगा पहने एक गीत गा-गा कर भीख माँग रहा था। उस गीत की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थीं :

माई के राम राम
बहनिया के राम राम
भैया बाबू[1] के राम राम
हमरा भी ध्यान रखिये

चिरैया के राम राम
चुरुगन[2] के राम राम
पेड़ के राम राम
पतई के राम राम
हमके ना बिसारियो

हमारे फ़ील्ड वर्क की अवधि वह थी जब उत्तर प्रदेश में दलित आधिपत्य वाली बहुजन समाज पार्टी (बसपा) का नेतृत्व एक दलित मुख्यमंत्री के हाथ में था। एक उपेक्षित दलित भिखारी, जो जोगी जाति से संबंधित है और जिसका जातिगत पारम्परिक व्यवसाय भिक्षावृत्ति है, वह इस गीत के माध्यम से राज्य के लोकतांत्रिक और वैकासिक परिक्षेत्र में अपनी जगह माँग रहा है। वह दलित अस्मिता और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के परिप्रेक्ष्य में अपने हाशियाकरण से उबरना चाहता है। जोगी जाति हिंदू और मुस्लिम, दोनों ही धर्मों के तहत उपेक्षितों में उपेक्षित के रूप में मौजूद है। उसका गीत इस दुखद यथार्थ का प्रमाण है कि दलितों में कुछ दलित जातियाँ दलित विमर्श के केंद्र में हैं, किंतु अनेक जातियाँ दलित विमर्श में भी उपेक्षित हैं।

लोकतंत्र को देखने के दो तरीक़े हैं। पहली निगाह वह है जिससे राज्य, नीति-निर्माता, नौकरशाह देखते हैं। उसमें लोकतंत्र और उसके प्रसार और विस्तार को ऊपर से देखा जाता है। दूसरा तरीक़ा है लोकतंत्र को नीचे से देखना, जिसमें यह पता चलता है कि लोकतंत्र के विस्तार और गहरे होने के क्रम में कौन-कौन छूट गया है। सामाजिक सच्चाई की पूरी समझ बनाने के लिए वस्तुतः हमें इन दोनों मुक़ामों से लोकतंत्र को देखना और समझना होगा।

---

[1] भैया बाबू : बड़े भाई जैसा, निचले सामाजिक स्तर वाले बुजुर्ग लोग ऊँची जाति वाले अपने से छोटों को स्नेह-भाव से भैया के आगे बाबू लगा के बुलाते हैं.

[2] चुरुगन : नन्हे पक्षी.

सशक्तीकरण : दो अर्थ

अभी तक सशक्तीकरण को दो ही अर्थों में समझा जा सका है। पहला, सत्ता को संसाधनों, क्षमताओं और पदों के रूप में बाँटा जा सकता है, और इस वितरणमूलकता के ज़रिये वंचित समूह सशक्त किये जा सकते हैं। सशक्तीकरण की इस प्रक्रिया को मात्रात्मक और गुणात्मक रूप से नापा जा सकता है। दूसरा, सत्ता का इस्तेमाल करके मौजूदा सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संबंधों में आमूल परिवर्तन किये जा सकते हैं। इन संबंधवाचक परिवर्तनों के अलावा रूढ़ छवियों पर प्रहार किये जा सकते हैं, स्थायी रूप से पराजित मानस बदला जा सकता है, उत्पीड़ित समुदायों के भीतर एक मनोवैज्ञानिक उछाल लाया जा सकता, और कुल मिलाकर प्रभुत्व और उत्पीड़न की संरचनाओं की बुनियादी ज़मीन पर ही चोट की जा सकती है। सशक्तीकरण का यह पहलू मुख्यत: आत्मनिष्ठ है, और इसे आसानी से देखा या स्पर्श नहीं किया जा सकता। सवाल यह है कि क्या उत्तर प्रदेश के दलितों में सशक्तीकरण की प्रक्रिया को इन दोनों आईनों में देखा जा सकता है? दलितों की ऊपरी परत का लाभान्वित होना किस श्रेणी में आयेगा? क्या वह दोनों तरफ़ से लाभान्वित हुई है, या केवल वितरणमूलक दायरे में ही वह आगे बढ़ पायी है? चूँकि सशक्तीकरण के इन दोनों पहलुओं के बीच में आपसी संवाद है, इसलिए अगर दलितों के ज़्यादा बड़े हिस्से को वितरणमूलक लाभ मिले हैं तो संबंधवाचक लाभों की ज़मीन कहीं न कहीं थोड़ी-बहुत ज़रूर बनी होगी। निचली परत को अगर वितरणमूलक लाभ नहीं मिल पाये तो क्या वह उस संबंधवाचक लाभ से भी वंचित रह गयी है?

राज्य के नेतृत्व में जनतंत्र-प्रसार का जो अभियान चल रहा है उसमें सशक्तीकरण तो हो ही रहा है, लेकिन साथ में अ-सशक्तीकरण की प्रक्रिया भी चल रही है। कमज़ोर तबक़ों के भीतर मौजूद ताक़तवर सामाजिक समूह नहीं चाहते कि उन्हें मिले संसाधनों का एक हिस्सा उनके ही उपेक्षित भाइयों में वितरित हो। जनतंत्र का यह प्रकार अपने आप में एक आधिपत्यशाली समूह सृजित करता है जिससे उपेक्षित समूहों के निर्माण की प्रक्रिया तेज़ होती है। इन उपेक्षित समूहों के लिए जनतंत्र और सशक्तीकरण की चाह दूर से आ रही एक रुलाई की तरह गूँज कर रह जाती है।

इतिहास में घटित होने वाले किसी भी परिवर्तन में एक वायदा भी निहित होता है कि अब स्थितियाँ बदल जाएँगी। ये वायदे और स्वप्न परिधीय समूहों के लिए काफ़ी मायने रखते हैं। फ्रांस की क्रांति सम्पन्न होने के बाद नेपोलियन ने जिस प्रकार उसके आदर्शों को कुचला वह सर्वज्ञात है। फ्रांसीसी क्रांति को एक वैचारिक आधार उपलब्ध कराने में रूसो का नाम बड़े ही अदब से लिया जाता है, लेकिन रूसो स्त्रियों के बारे में क्या सोचते थे, इस पर बहुत ही कम बात की जाती है। दरअसल, रूसो स्त्रियों की घरेलू भूमिका से आगे सोचने को तैयार ही नहीं थे। उनके अनुसार वे पुरुषों की ग़ुलामी करने के लिए ही पैदा हुई हैं।[3] स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा देने वाली क्रांति के इन्हीं वैचारिक आधारों के बीच अपनी जगह तलाशने के लिए स्त्री-स्वतंत्रता की मुहिमों ने तब से लेकर अब तक एक लम्बी लड़ाई ज़ारी रखी है।

ऑस्ट्रेलिया के मूल निवासियों का उपनिवेशीकरण 1788 में प्रारम्भ हुआ और बीसवीं शताब्दी के मध्य तक जारी रहा। ब्रिटेन के उपनिवेशिकों ने इन लोगों की ज़मीन पर क़ब्ज़ा किया, उनकी जीविका के साधनों को छीन लिया और उन्हें उनके प्राकृतिक वातावरण और सांस्कृतिक आधारों से काट कर एकदम सीमांतों पर धकेल दिया। एक लम्बे समय तक उच्छेदन, बहिष्करण तथा जबरिया आत्मसातीकरण की ब्रिटिश नीति ने मूल निवासियों को रिज़र्वेशन में सीमित करके रख दिया। इतना

---

[3] ए.सी. ग्रेलिंग (2008), *दि ब्रिटेनिका गाइड टू दि आइडियाज़ दैट मेड दि माडर्न वर्ल्ड*, रॉबिंसन पब्लिशिंग, यूके : 192-3.

ही नहीं, उनके बच्चों को माता-पिता से ज़बरदस्ती अलग करके तथाकथित रूप से सभ्य बनाने की मुहिम ने बालकों की कई पीढ़ियों पर एक स्थायी सदमा थोप दिया। उनका पूरा का पूरा जीवन ही नष्ट हो गया। इन्हें *स्टोलेन जेनरेशन* कहा गया। 1930 के दशक के बाद मूल निवासियों के सामाजिक आंदोलनों की शुरुआत हुई और 1962 में उन्हें वोट डालने का अधिकार यानी प्रजातंत्र के अखाड़े में अपनी उपस्थिति जताने का अधिकार मिला। लेकिन, अतीत में जान-बूझकर किये गये अन्याय की केवल वोट के अधिकार से क्षतिपूर्ति नहीं की जा सकती है। दक्षिण अफ़्रीका में डेसमंड टुटू और भारत के स्वतंत्रता संघर्ष में महात्मा गाँधी द्वारा अभिकल्पित शांति और क्षमा के सार्वभौम मूल्यों और सबसे बढ़कर मूल निवासियों के इस विश्वास के आधार पर कि क्षमा माँग लेने के पश्चात पापी का पाप नष्ट हो जाता है, 28 मई, 2000 को सिडनी हार्बर पर द पीपुल्स वॉक फॉर रिकंसीलिएशन का आयोजन किया गया। इसमें 25,000 लोगों ने भाग लेकर ऑस्ट्रेलियायी सरकार से माँग की कि वह अतीत में किये गये अत्याचारों के लिए सार्वजनिक तौर पर माफ़ी माँगे और सम्मानजनक समाधान प्रस्तुत करे। आठ साल के पश्चात ऑस्ट्रेलिया की संसद की ओर से केविन रड ने माफ़ी माँगी। यह माफ़ी विशेषकर *स्टोलन जेनरेशंस* के लोगों से माँगी गयी।[4] इतिहास के एक पीड़ादायक दौर की समाप्ति के बाद *एफ़रमेटिव एक्शन* के ज़रिये अन्यायों की भरपाई के लिए ऑस्ट्रेलिया की सरकार कुछ उपाय कर रही है। मूल निवासियों की कुल संख्या 2.7 प्रतिशत है। लेकिन वे अपनी भाषा खो चुके हैं। उनमें से केवल 12 प्रतिशत ही अपनी भाषा बरतते हैं और केवल एक प्रतिशत लोग ही अपने मूल विश्वासों को मानते हैं। मूलनिवासी ऑस्ट्रेलियायी राष्ट्र-राज्य से अपनी पहचान उस मुक़ाम से करने की अपेक्षा रखते हैं जिसमें उन्हें इस महाद्वीप का वास्तविक निवासी मानते हुए दूसरे लोगों से श्रेष्ठ समझा जाए। यद्यपि अधिकारों की पश्चिमी राजनीतिक व्याख्या प्रत्येक व्यक्ति को बराबर मानती है और सभी व्यक्तियों को क़ानून का समान संरक्षण उपलब्ध कराती है, फिर भी मूल निवासियों का मानना है कि पश्चिमी विधिक व्यवस्था अब तक उनके अधिकारों की रक्षा करने में अक्षम रही है। यह एक प्रकार से प्रजातांत्रिक राष्ट्र-राज्य प्रणाली की आधुनिक विचारधारा के बीच से ही कमज़ोर लोगों द्वारा अपने अधिकारों की पुन:प्राप्ति का एक अवसर है जिसे वे खोना नहीं चाहते हैं। इसे ही क्लार्क ने सामाजिक प्रश्नों का राजनीतिकरण कहा है।[5]

भारत में आज़ादी की लड़ाई कोई एकाश्म क़िस्म की वैचारिक लड़ाई नहीं थी, बल्कि इसमें विभिन्न स्वर और स्वप्न समाहित थे। आज़ाद भारत के संविधान में इन स्वरों और स्वप्नों को जगह देने का प्रयास किया गया। विभिन्न प्रावधानों और क़ानूनों द्वारा जहाँ उन्हें सशक्त बनाया गया, वहीं आधुनिकता और बाज़ार के दबाव ने उनसे वे चीज़ें वापस ले लीं। यहाँ हम अपना ध्यान बाँस का काम करने वाली और उससे जीविका चलाने वाली जातियों पर केंद्रित करना चाहेंगे जो इतिहास के विभिन्न काल खण्डों में विभिन्न नामों से जानी जाती रही है। उत्तर वैदिक काल में बाँस का काम करने वालों को विदलकार (तैत्तरीय संहिता, 4.5.1) कहा जाता था। इसकी गिनती एक महत्त्वपूर्ण पेशे के रूप में (वासजनेयी संहिता, 30.8) थी। मनुस्मृति में इन्हें हम वेण के रूप में पाते हैं जो वैदेहिक पुरुष और अबष्ठ स्त्री की संतान (मनुस्मृति, 10.19, बौधायन धर्मसूत्र 1.9.13) हैं। इनका मुख्य कार्य बाँस का सामान बनाना (मनुस्मृति, 10.41) तथा कांस और मुरूज जैसे वाद्ययंत्र बजाना था। महाभाष्य में वरूड शब्द (महाभाष्य 4.1.17) आता है, इसी से बंसोड़ जाति का विकास हुआ जो पेशे के आधार पर उपर्युक्त जातियों में से निकली है (सिंह 1998 : 317)। वेणों से ही डोम निकले प्रतीत होते हैं,

[4] केविन रड (2008), *अपॉलॅजी टु ऑस्ट्रेलियाज़ इंडीजेनस पीपुल्स,* हाउस ऑफ़ रेप्रज़ेंटेटिव्ज़, http://www.aph.gov.au/hansard/reps/dailys/de130208.pdf

[5] जे. क्लार्क (2008), *अबॉरिजिंस एण्ड एक्टिविज़म : रेस, एबोरिजिंस एण्ड दि कनिंग ऑफ़ दि सिक्सटीज़ ऑस्ट्रेलिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ वेस्ट ऑस्ट्रेलिया प्रेस : 249.

क्योंकि इनकी एक उपजाति बंसफोर भी कही जाती है (वही : 861–870)। डोम भी गाने–बजाने का काम करते थे तथा बाँस की टोकरी बनाना इनका मुख्य व्यवसाय था। चाण्डालों पर प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्रभूत सामग्री मिलती है (छांदोग्य उपनिषद 5.10.7; गौतम धर्मसूत्र, 4.15 16; वशिष्ठ धर्मसूत्र 18.1; मनुस्मृति 10.12)। चाण्डाल पुरुष तथा वैदेहिक स्त्री से पाण्डुसोपाकों की उत्पत्ति हुई जिनका मुख्य कार्य बाँस की वस्तुएँ बनाना था (तैत्तरीय संहिता 4.5.4.2; मनुस्मृति 10.32)।[6]

उत्तर प्रदेश के शहरों में कभी ध्यान से देखिए तो पायेंगे कि पटरियों के किनारे, बस अड्डों के पास या किसी बड़े पार्क के किनारे कुछ लोग अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ बाँस काट–छील कर दैनिक उपयोग की वस्तुएँ बना रहे होते हैं। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से ये समाज के लगभग सबसे निचले पायदान पर स्थित हैं। सदियों से बाँस का काम करते रहने के कारण इनमें एक पेशागत दक्षता पायी जाती है। ये बंसोर या धरिकार हैं। इनकी झोंपड़ियाँ बाँस, कच्ची ईंटों और प्लास्टिक के तिरपालों से ढँकी होती हैं। भोजन बनाने, सोने और आराम करने के अलावा ये लोग सारे दैनिक कार्य बाहर ही करते हैं। भारतीय शहरों में लगातार बन और बिगड़ रहे सामाजिक भूगोल में इन धरिकार स्त्रियों का रहन–सहन बड़ा ही दुष्कर है। अब तो बाँस ही ख़त्म होते जा रहे हैं तो इनकी जीविका कैसे चले? शहरों में ये लोग महँगे दामों में बाँस ख़रीदकर उससे छोटी–मोटी वस्तुएँ बनाकर अपनी जीविका चलाते हैं। बाँस के शिल्प के इन हुनरमंदों से सामान ख़रीदने के बजाय हमारा मध्यम वर्ग *फ़ैब इंडिया* या ऐसे ही प्रतिष्ठित आउटलेट्स से बाँस की वस्तुएँ ख़रीदकर गौरवान्वित महसूस करता है और ये उपेक्षित समूह लगातार हाशिये की ओर सरकते जाते हैं। हमने सूचना के अधिकार का इस्तेमाल करके जब इन समूहों की केंद्र सरकार की सिविल सेवाओं में प्रतिनिधित्व को जानना चाहा तो सीधा सा जवाब आया केंद्र सरकार के संबंधित मंत्रालय के पास इसका कोई रिकॉर्ड नहीं है। वास्तव में हाशियाकरण का एक हथियार लोगों को रिकॉर्डों से ग़ायब करना भी हो सकता है।

कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि पहले इनकी ज़िंदगी में एक स्वर्ण–काल हुआ करता था, लेकिन इन सीमांतीय समूहों में ये बेचारगी भी नहीं हुआ करती थी। गाँवों में ज़बर्दस्त ढंग से बाज़ार के प्रवेश के बाद ये बेचारगी कई अन्य समूहों में और गहराती गयी है। गाँवों में पशुपालन के प्रति सामान्य किसानों की अनिच्छा और पशु संवर्द्धन में ऊँची तकनीक के प्रवेश ने नट और महावत जैसी जातियों की जीविका छीन ली है। आज से पंद्रह या बीस साल पहले तक ये समुदाय अगस्त से अक्टूबर तक पर्याप्त कमा लेते थे। इनकी कमाई का आधार वे भैंसे होते थे जिनसे भैंस का गर्भाधान कराया जाता था। इसके अतिरिक्त ये पशुओं के सामान्य रोगों के काफ़ी अच्छे जानकार होते थे, इसलिए ग्रामीण समाज के बीच इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। जिम्नेज़ियम और शक्तिवर्द्धक दवाओं के प्रति दीवानगी के वर्तमान दौर के पहले नट ग्रामीण और क़स्बाई युवाओं को कुश्ती सिखाते थे। अब उनकी जगह प्राइवेट फ़िटनेस ट्रेनर ने ले ली है और युवा नट बेरोज़गार होकर या तो इस या उस शहर में रिक्शा चला रहे होते हैं या किसी निर्माणाधीन मॉल में दिहाड़ी मज़दूरी कर रहे होते हैं। लोकतंत्र और आधुनिकता ने अब तक फ़िलहाल उन्हें यही दिया है।

ये वही जातियाँ हैं जिनके पास अपने दावे प्रस्तुत करने के लिए कोई आवाज़ नहीं है। यहाँ दावेदारी का आशय उस आवाज़ से है जो मायने रखती है और जिसे अनसुना नहीं किया जा सकता।

---

[6] इस पूरी जानकारी के लिए देखें : के.एस. सिंह (1998), *इंडिया'ज़ कम्युनिटीज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली; पैट्रिक आलिविले (2005), *मनुज़ कोड आफ़ लॉ : अ क्रिटिकल एडिशन एण्ड ट्रांसलेशन ऑफ़ दि मानव–धर्मशास्त्र,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड; वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पंसिकर (सम्पा.)(1912), *वाजनेई संहिता (मध्यंदिना रिसेंशन) विद दि कमेंटरी ऑफ़ उवात एण्ड महिधारा, बॉम्बे;* ई. सेनार्ट (1930), *छांदोग्य उपनिषद,* ट्रांसलेशन एण्ड कमेंट्री, ल बेले लेटर्स, पेरिस; ए.एस. स्ट्रेंगलर (सम्पा.) (1876), *गौतम धर्मसूत्र,* ए.एफ. स्टेंगलर, लंदन; ई. हूल्त्ज़ (सम्पा.) (1884), *बौधायन धर्मसूत्र, लाइप्ज़िग.*

भारतीय लोकतंत्र में केवल कुछ दलित जातियों ने अपनी आवाज़ उठाने की क्षमता और विश्वास हासिल किया है। हमें साफ़ तौर से दिखाई पड़ता है कि केवल कुछ जातियाँ ही अपने तरीक़े से अन्य सब जातियों की ओर से व्याख्या करती और बोलती हैं। इस दशा में कुछ जातियों को स्वयं को सही ढंग से प्रस्तुत न किये जाने और जड़ों से उखड़ी हुई प्रतीकात्मक पहचान हावी हो जाने के ख़तरे का सामना करना पड़ता है।

कोई आवाज़ केवल बोलना भर नहीं होती। किसी आवाज़ के मायने होते हैं किसी को पहचान दिलाना और हस्तक्षेप करने की उस क्षमता का निर्माण करना जो उन्हें अदृश्यमूलकता की स्थितियों से छुटकारा दिलाये।[7] हमें किसी आवाज़ की आवश्यकता आख़िर होती ही क्यों है? दरअसल, आवाज़ें हमें दृश्यमूलक बनाती हैं, भौतिक रूप से देखे जाने के अर्थ में नहीं, बल्कि अवसरों के वितरण के बारे में बताने वाली आवाज़ के अर्थ में।

आवाज़ और अदृश्यमूलकता का राजनीतिक व्याकरण

वास्तव में किसी समुदाय की आवाज़ वह होती है जिसे प्रजातंत्र में सुना या पहचाना जा सके। अभ्यर्थी होने की क्षमता प्राप्त करने के लिए समुदायों को वह अधिकतम स्तर प्राप्त करना होता है जहाँ से वे दृश्यमूलकता प्राप्त करने के लिए अभ्यर्थी बन सकें। किसी लोकतंत्र में लोगों को वह मिलता है जो वे माँगते हैं। जिसे वे नहीं माँग पाते, वह उन्हें नहीं मिलता। राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेने वाली आवाज़ें भी अनसुनी और अनजानी रह जाती हैं। ये आवाज़ें सत्ता में रहने वाले लोगों, राज्य द्वारा या स्वयं सीमांत समुदायों के अपने नेतृत्व द्वारा जानबूझ कर उपेक्षित की जा सकती हैं। यह प्रातिनिधिक राजनीति की एक महत्त्वपूर्ण सीमा है। इसके अतिरिक्त बेआवाज़ समूहों को दृश्यमूलकता प्राप्त करने में उस जगह समस्या आती है जहाँ डिजिटल मीडिया से संचालित संचार माध्यम अति–यथार्थ दिखा

---

[7] ऐन. कालट्राइ (2010), *व्हाय वायस मैटर्स : कल्चर एण्ड पॉलिटिक्स आफ़्टर नियोलिबरलिज़म,* सेज, नयी दिल्ली : 3.

रहे हों और जहाँ उनकी आवाज़ों को सुने जाने के स्पेस के बिखर जाने का ख़तरा हो। दरअसल, हमें केवल आवाज़ ही नहीं चाहिए बल्कि इन आवाज़ों का मूल्य भी चाहिए। किसी आवाज़ का मूल्य तभी हो सकता है जब इसे सम्मान और पहचान मिले। आवाज़ों को सम्मान और पहचान तभी मिल सकती है जब बेआवाज़ समुदाय अपनी ख़ुद की कहानी सबको सुनाने का आत्मविश्वास और शक्ति प्राप्त कर ले। प्रतीकात्मक रूप से शक्ति प्राप्त करने के संघर्ष में इन समुदायों के अपने इतिहास, नायक और राजनीतिक वृत्तांत उनका मूल्यवर्द्धन करते हैं।

भारतीय लोकतंत्र में केवल कुछ दलित जातियों ने अपनी आवाज़ उठाने की क्षमता और विश्वास हासिल किया है। हमें साफ़ तौर से दिखायी पड़ता है कि केवल कुछ जातियाँ ही अपने तरीक़े से अन्य सब जातियों की ओर से व्याख्या करती और बोलती हैं। इस दशा में कुछ जातियों के समक्ष अपने को सही ढंग से प्रस्तुत न किये जाने और जड़ों से उखड़ी हुई प्रतीकात्मक पहचान हावी होने का ख़तरा अवश्यम्भावी हो जाता है। राज्य और सत्ता भी इस प्रकार की ग़लत प्रस्तुति को बढ़ावा देती हैं और अपनी सहमति से उन दशाओं का निर्माण करती हैं जिनके कारण राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों द्वारा निर्मित दावे सही ढंग से प्रस्तुत नहीं हो पाते। इस प्रकार की ग़लत प्रस्तुति और उसके बाद पहचान न दिये जाने के कारण एक ऐसी तस्वीर बनती है जिसमें प्रजातंत्र के सूची-पत्र में कुछ लोग दृश्यमान होते हैं और अन्य लोग धुँधले और अदृश्य रह जाते हैं। शासन और राज्य द्वारा प्रकीर्णित प्रजातंत्र की प्रक्रिया में राज्य स्वयं अपनी ही भाषा विकसित कर लेता है। इससे एक ज्ञानमीमांसीय स्पेस रचा जाता है। वे लोग या समुदाय जो यह भाषा समझने और प्रत्युत्तर देने में समर्थ हैं, वे राज्य के अखाड़े में आसानी से समाहित हो जाते हैं। जो लोग या समुदाय बोलने और इस भाषा में अपनी माँग रखने में सक्षम नहीं हैं वे ख़ुद को बहिष्कृत महसूस करते हैं और उनकी आवाज़ें अनसुनी रह जाती हैं। राज्य और प्रजातंत्र के अखाड़े में जो लोग बेआवाज़ बनाये गये हैं, वे अपनी आकांक्षाओं और स्वप्नों के बारे में अपनी संस्कृति और सांस्कृतिक भाषा में बात करने के लिए मज़बूर हैं।

हम इस आलेख में यह भी देखना चाहेंगे कि उत्तर प्रदेश में लोकतंत्र क्यों दलितों में एक विशिष्ट समूह के हाथों में सीमित होकर रह गया है और दलितों की एक बड़ी संख्या दलित मुख्यमंत्री और बसपा की सरकार के होने के बावजूद लोकतांत्रिक सशक्तीकरण से वंचित रह गयी। इसमें दलितों में चमार जाति, जो उत्तर प्रदेश में सम्पूर्ण दलित जनसंख्या का 56 प्रतिशत है, का बड़ी संख्या के रूप में मौजूद होना ही नहीं, बल्कि अन्य कारण भी हैं जिन्होंने लोकतांत्रिक विमर्श में उसे महत्त्वपूर्ण बनाया। इस आलेख में विभिन्न प्रकार के स्रोतों, पाठों, उपन्यासों, समाचार-पत्रों में छपी रपटों और मौखिक स्रोतों के आधार पर शोध-अभिकल्पनाओं को जाँचा-परखा गया है।

सजातीयता, बहु-स्तर और तरतमता

दलित शब्द अछूत और अन्य निम्न जातियों की एक सामूहिक संज्ञा है। ये जातियाँ ऐतिहासिक रूप से सामाजिक भेदभाव का शिकार रही हैं। स्वतंत्रता-पश्चात भारत में यह शब्द पहचान बनाने लगा। शोषण के विभिन्न कारण उन्हें समाज के निचले स्तर पर अवस्थित कर रहे थे। यह माना जाता है कि दलित शब्द का तात्पर्य उग्र चेतना है। यह एक मनोवैज्ञानिक व सामाजिक स्थिति है। एक ऐसी मनोदशा है जो ब्राह्मणीय व्यवस्था द्वारा बनाये गये रूढ़िवादी सामाजिक ढाँचे पर प्रश्न उठाती है और प्रहार करती है। अत: दलित हिंदू जाति की वर्चस्ववादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ एक आक्रोश है। वास्तव में प्रारम्भिक शब्द शूद्र, अछूत, अनुसूचित जाति, आदि सांस्कृतिक और प्रशासनिक कृपालुता की देन थे, जिनमें दयामय संरक्षण का पुट था। यह एक ऐसा भाव था जिससे दलित घृणा करते थे।[8]

---

[8] डी.आर. नागराज (2010), *दि फ़्लेमिंग फ़ीट एण्ड अदर एसेज़,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत : 94.

हालाँकि आम्बेडकर ने दलित समुदाय में सजातीयता और समानता के लिए गम्भीर प्रयास किये। लेकिन यह प्रक्रिया आम्बेडकर से पहले शुरू हो गयी थी और विरोध, आंदोलन और विद्रोह के रूप में बहुत समय बाद तक प्रभावी रही। यह दलितों के सशक्तीकरण के लिए लोकतांत्रिक आंदोलन का एक रास्ता था। वास्तव में दलितों के (नये समूह के) विभिन्न आंदोलन उनकी सांस्कृतिक और राजनीतिक अभिव्यक्ति का एक माध्यम थे। यह दलित अस्मिता के निर्माण का एक प्रयास था। महाराष्ट्र और दक्षिण भारतीय राज्यों में दलित आंदोलन की शुरुआत 1900 में हुई। उत्तर प्रदेश में 1980 के मध्य में कांशीराम के नेतृत्व में इसने गति पकड़ी। कांशीराम ने लोकतांत्रिक सशक्तीकरण के लिए दलितों को बहुजन[9] शब्द से सम्बोधित कर उनकी जागरूकता व चेतना को और सशक्त किया। यद्यपि यही परिपक्व समय है एक क्षण रुक कर सोचने के लिए, आत्मावलोकन के लिए और सम्पूर्ण दलित सशक्तीकरण के मुद्दे पर पुनः विचार करने के लिए। महाराष्ट्र में जब आम्बेडकर दलितों को एक सजातीय समूह के रूप में जागरूक बनाने का कार्य कर रहे थे तब महार[10] (आम्बेडकर की जाति), जिनकी जनसंख्या सबसे ज़्यादा है, एक प्रभुत्वशाली समूह के रूप में आगे आये। भले ही आम्बेडकर की ऐसा करने की मंशा नहीं थी। इस प्रक्रिया में मतंग और अन्य छोटे दलित समुदाय सीमांत हो गये। उनके भीतर विद्रोह की भावना जागी। वास्तव में इस सवाल को काफ़ी अस्पृश्यों ने उठाया। इसका एक उदाहरण, जो आम्बेडकर के समय में सामने आया, उल्लेख करने योग्य है।

13 जून, 1941 को मतंग परिषद के नेता दविदास राव ने एक पत्र लिखा जो अगले दिन *जनता* अख़बार में आम्बेडकर की टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ। दविदास राव ने अपने पत्र में 17 पृष्ठों में महार और मतंग समुदायों का अंतर बताया था। उनके अनुसार शादी समारोह के दौरान मतंग दूल्हे घोड़ी पर चढ़ते हैं। महार इसका विरोध करते हैं और जिसके परिणामस्वरूप ख़ून-ख़राबा होता है। जब मतंग सुधार की बात करते हैं तो महार उनका साथ नहीं देते। महारों की जनसंख्या ज़्यादा है, इसलिए मतंगों को ग़ैर-दलितों और महारों की ग़ुलामी करनी पड़ती थी। अस्पृश्यों में महार ही शिक्षित हैं। वे स्वार्थी होते हैं और दूसरों को सुधरता नहीं देख सकते। उनके मध्य एमएलए भी पाये जाते हैं। आपने (आम्बेडकर) महारों पर तो ध्यान दिया और इसलिए मतंग परिषद ने एक प्रस्ताव पारित किया कि आप महारों के नेता हैं, न कि मतंगों के। उन्होंने आम्बेडकर को न्यायपूर्ण ढंग से महारों और मतंगों को एकजुट कर उनके बीच के अंतर को ख़त्म करने का आग्रह किया।[11] यद्यपि आम्बेडकर ने प्रभावशाली तरीक़े से इस बात को नकारा कि उन्होंने मतंगों से कोई भेदभाव किया, लेकिन उस वक़्त का सर्वमान्य विचार है कि सामाजिक न्याय के क्षेत्र में भेदभाव और अंतर विद्यमान था। यह तथ्य गम्भीर बहिष्करण की ओर इंगित करता है।

इस तरह के बहिष्करण की अभिव्यक्ति केवल अंतर्जातीय और बहिर्जातीय स्तरों पर ही नहीं थी। जब दलितों को जाग्रत किया गया तो उन्होंने सर्वव्यापी बहिष्करण, जो कि ब्राह्मणीय-व्यवस्था द्वारा हो रहा था, के ख़िलाफ़ ज़बरदस्त संघर्ष किया। देखने की बात यह है कि जातिगत बहिष्करण की कमियों से संघर्ष करते समय सशक्त दलित जातियों ने न सिर्फ़ इसे दूर करने का प्रयास किया बल्कि

---

[9] बहुजन में दलित, अन्य पिछड़े वर्ग (ओबीसी) एवं अल्पसंख्यक आते हैं जो बसपा के चुनावी आधार हैं. कांशीराम की योजना में 'बहुजन' महज़ अधिसंख्यक जनता का प्रतीक नहीं है, जैसा कि बुद्ध एवं महात्मा फुले का विचार था. कांशी राम के लिए यह एक सैद्धांतिक वर्ग है जो राजनीतिक सशक्तीकरण के लिए एक आधार तैयार कर सकता है. बी. नारायण (2006), *वुमॅन हीरोज़ एण्ड दलित एसर्शन इन नॉर्थ इंडिया : कल्चर, आइडेंटिटी एण्ड पॉलिटिक्स,* सेज, नयी दिल्ली : 37.

[10] शरण कुमार लिम्बाले (1991) का एक आत्मकथात्मक उपन्यास *अक्करमाशी,* ग्रंथ एकेडमी, नयी दिल्ली इस तरह के महार-मतंग द्वंद्व के अनेक लिखित प्रमाण देता है.

[11] श्योराज सिंह बेचैन (1997), *हिंदी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार आम्बेडकर का प्रभाव,* समता प्रकाशन, दिल्ली : 41.

इसे अंतर्ग्रहित कर अपने भीतर ही एक नये प्रकार के बहिष्करण का ढाँचा रचा। यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मण-व्यवस्था की कमियों और उस व्यवस्था की बुराइयों ने, जिसके ख़िलाफ़ दलित संघर्षरत और उसे ढहाने के लिए प्रयासरत थे, दलित जाति में भी अपना स्थान बना लिया। दलित समूह भी आपस में एक-दूसरे को नकारने और बहिष्कृत करने लगे। अर्थात् वहाँ पर बहुस्तरीय बहिष्करण था। एक वह था जिसके ख़िलाफ़ वे संघर्षरत थे, और दूसरा वह जिसे वे स्वयं चुपचाप सँजो रहे थे। उत्तर प्रदेश में कुछ दलित समुदायों ने चमारों के सशक्तीकरण (जो नारा मवेशी आंदोलन के रूप में उभर रहा था) के ख़िलाफ़ ब्राह्मणों और अन्य ऊँची जातियों से हाथ मिलाया। इस कारणवश कुछ चमारों का उनके ही समुदाय से बहिष्करण हुआ। पूर्वी भारत के चमारों में 1950 के मध्य में आंदोलन की शुरुआत हुई। यह सामाजिक आंदोलन चमारों के गंदे समझे जाने वाले जातिगत पेशे को ख़त्म करने के लिए शुरू किया गया। इस व्यवसाय के अंतर्गत आदमी मरे हुए जानवरों का चमड़ा निकालते थे, और औरतें नवजात शिशुओं का नार काटती थीं। इसके बदले में जजमानी संबंधों के अंतर्गत उन्हें अनाज और कपड़े मिलते थे। यह एक ऐसा आंदोलन था जिसमें हिंसा और उत्पीड़न के अनेक स्तर थे, जो न सिर्फ़ उच्च जाति के लोगों के मध्य देखने को मिले अपितु चमारों के बीच भी मौजूद थे। उच्च जाति और अन्य जातियों के लोगों द्वारा चमारों को अपना गंदा जातिगत व्यवसाय छोड़ने के लिए बाध्य करने हेतु सामाजिक बहिष्कार, दमन और प्रताड़ना के परम्परागत तरीक़े अपनाये गये। ऐसे ही कुछ हथियारों का चमारों ने अपने अन्य चमार भाइयों को उनके पेशे से छुड़ाने के लिए उपयोग किया। एक तरफ़ उच्च और मध्य जाति के लोग चमारों का दमन कर रहे थे, वहीं दूसरी तरफ़, कुछ दलित जातियाँ जैसे नाई, धोबी, पासी इत्यादि ने उच्च जातियों से हाथ मिलाकर उन चमारों का दमन किया जो अपने पारम्परिक व्यवसाय को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। चमारों के मध्य भी काफ़ी फ़र्क़ पाया गया। जो चमार इस व्यवसाय को ख़त्म करने के लिए अभियान चला रहे थे, वे उन चमारों को प्रताड़ित कर रहे जो इस पेशे को ज़ारी रखना चाहते थे।

लोकतांत्रिक गतिशीलता की प्रक्रिया में दलितों का बहिष्कार उन्मूलित होने के बजाय और मज़बूत हो गया। इस बहिष्करण के कारण 'अति-दलित' शब्द दलित बुद्धिजीवी शब्दकोश का एक अंग बन गया। हाल में ही बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार ने दलित समुदायों के मध्य इस बहिष्करण की घटना का अवलोकन किया और एक नये वर्ग महादलित[12] की स्थापना की। उनका यह क़दम राजनीतिक चिंतकों और उनके विरोधियों द्वारा वोट की राजनीति के लिए की जाने वाली सोशल इंजीनियरिंग के तौर पर देखा गया। यह बहुत ही रोचक है कि जब हम दलित समुदायों में सजातीयता और बहुस्तरीयता की बात करते हैं तो हम द्विभाजक ध्रुवीयता का निर्माण करते हैं। यह द्विभाजक ध्रुवीयता दलितों में अन्य सीमांत और छोटे समुदायों को लोकतंत्र के विमर्श, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और सशक्तीकरण से बहिष्कृत करती है। मसलन, जब भी दलित समुदायों के भीतर पाये जाने वाली सजातीयता और बहुस्तरीयता पर विचार किया जाता है वह द्विभाजक रूप में होती है, जैसे महाराष्ट्र के संबंध में महार व मतंग, आंध्र प्रदेश में माला व मदिगा और उत्तर प्रदेश के संदर्भ में चमार और पासी। दलित लोकतंत्र में इस तरह के अकादमिक जनसंचार और राजनीतिक विमर्श का निर्माण दलितों के कई छोटे समुदायों को किसी भी तरह के विमर्श से बहिष्कृत करता है, जिसके परिणामस्वरूप ये समुदाय लोकतांत्रिक परिदृश्य से विलुप्त हो जाते हैं। 1980 के मध्य में उत्तर प्रदेश

[12] 2007 में महादलित कमीशन ने बिहार की 22 दलित जातियों में से 28 को महादलित जाटव और पासवान, जिनका संख्यात्मक प्रभुत्व है माना. महादलित के दायरे से केवल चार जातियाँ बाहर रहीं जो बिहार की अनुसूचित जातियों का कुल 60 प्रतिशत हैं; और धोबी और पासी, जिन्हें दलितों में विकास के पैमाने पर ज़्यादा बेहतर स्थिति में समझा जाता है. बाद में सभी जातियों को सूची में शामिल कर लिया गया, हालाँकि उन्हें दिये जाने वाले लाभों में अंतर था.

में दलित सशक्तीकरण के आंदोलन ने जड़ पकड़ी जिसके परिणामवश राज्य की बसपा और उसकी नेता मायावती सत्ता की दावेदार बनकर उभरीं। उन्हें सत्ता कई बार मिल चुकी है। आगे भी मिल सकती है, लेकिन, राज्य में अन्य दलित समुदायों के बहिष्करण की समस्या स्पष्ट है। दलितों के एक प्रमुख नेता कांशीराम ने उत्तर प्रदेश में बसपा के गठन के दौरान कहा था, उत्तर प्रदेश गंगा और यमुना के बीच का आर्यावर्त राज्य है, यह चमारवर्त (चमार-आधिपत्य राज्य) में परिवर्तित हो जाएगा। चमार ही बसपा के आधार होंगे। इसके लिए उन्होंने पंजाब से लेकर बिहार तक उनका आह्वान किया। बसपा में चमारों की आधिपत्यता ने अनेक दलित समुदायों का बहिष्करण किया है और वे अब भी सीमांतों में सीमांत है। हाल में ही दो सौ अनुसूचित जाति उम्मीदवारों का नोएडा प्राधिकरण में चयन हुआ जिनमें से 199 एक ही जाति के हैं। एक वक्ता ने कहा कि बसपा भूल गयी है कि 2007 में उसकी विजय का कारण सम्पूर्ण दलित जातियों का एकजुट होना था।[13]

II

उत्तर प्रदेश भारत के पूर्वी भाग में स्थित पाँचवाँ बड़ा प्रदेश है। इसके अंतर्गत 70 ज़िले आते हैं। उत्तर प्रदेश का क्षेत्रफल 2,40,928 वर्ग कि.मी. है और इसकी जनसंख्या 166,197,921 है।[14] अनुसूचित जाति उत्तर प्रदेश में कुल जनसंख्या का 21.15 प्रतिशत है।[15] उत्तर प्रदेश में कुल 97,942 गाँव हैं और गाँवों में रहने वालों का प्रमुख व्यवसाय खेती है। 2001 की जनगणना के अनुसार राज्य में 66 दलित जातियाँ हैं। दलित समुदाय, जैसे चमारों की जनसंख्या 18,803,105 (53 प्रतिशत) है, जबकि अन्य समुदाय, जैसे पासी 5,597,002 (16 प्रतिशत), धोबी 2,184,212 (6 प्रतिशत) और कोरी[16] 92,000,628 (6 प्रतिशत) हैं। चमार अनुसूचित जाति का 84 प्रतिशत भाग है और इनका बाहुल्य है। उत्तर प्रदेश में पासी चमारों की तुलना में 40 प्रतिशत कम हैं। अन्य 62 दलित समुदाय जो अनुसूचित जाति का मात्र 16 प्रतिशत हैं, उनके नाम हैं दुसाध (237,181 : 0.7प्रतिशत), बसोर (137,013: 0.4 प्रतिशत), धानुक (542,651 : 1.5 प्रतिशत), धारकार (94,610 : 0.3 प्रतिशत), खरवार (119,248 : 0.04 प्रतिशत), कंजर (119,248 : 0.3 प्रतिशत), नट (158,379 : 0.5 प्रतिशत), भुईयार (24,928 : 0.07 प्रतिशत), चेरो (32,405 : 0.1 प्रतिशत) इत्यादि।

इनको सीमांत नहीं कहा जा सकता। 62 दलित समुदायों में से 9 दलित समुदाय विलुप्त प्राय: हैं। इनकी जनसंख्या 1,816 से लेकर 184 तक है। ये विलुप्त समुदाय हैं: बाजगी (640), बलाई (1014), धरामी (184), हरी (1,719), खोरोट (700), लाल बेगी (299), पराहिया (1,816), पतरी (1,716) और सनैरहिया (1066)। ये दलित समुदाय जनतंत्रीकरण की प्रक्रिया से अब भी कोसों दूर हैं। चूँकि इन समुदायों की जनसंख्या काफ़ी कम है और ये किसी मायने में महत्त्वपूर्ण नहीं माने जाते, इसलिए ये अपनी आवाज़ अब तक उठा नहीं पाये हैं। इनकी आवाज़ दब गयी है और ये जनतंत्रीकरण और विकास की प्रक्रिया से बहिष्कृत कर दिये गये हैं। दो अदृश्य दलित समुदायों,

---

[13] 'बसपा ने दलितों की एकता तोड़ी', *हिन्दुस्तान* (2011), इलाहाबाद, 25 मई : 2.

[14] *सेंसस ऑफ़ इंडिया (2001),* प्राइमरी सेंसस एब्सट्रैक्ट, खण्ड 1, शृंखला 10, उत्तर प्रदेश डायरेक्टरेट ऑफ़ सेंसस ऑपरेशन.

[15] के.एस. सिंह (सम्पा.) (2005), *पीपुल ऑफ़ इंडिया : उत्तर प्रदेश,* एंथ्रोपोलॅजीकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, भाग 1-3, मनोहर पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.

[16] 21 फरवरी 2011 को कोरियों ने इलाहाबाद में कम्पनी बाग़ पर विरोध प्रदर्शन किया कि उन्हें उत्तर प्रदेश की अनुसूचित जाति सूची से हटकर पिछड़े वर्ग में शामिल किया जा रहा है क्योंकि उनकी शिक्षा का प्रतिशत ज़्यादा है और वे बेहतर आर्थिक स्थिति में हैं. उत्तर प्रदेश में कुल 14 अन्य जातियाँ भी अनुसूचित जाति की सूची में शामिल होनी बाक़ी हैं. इसकी प्रक्रिया अभी चल रही है.

जोगी और रंगरेज़ का उल्लेख तो जनगणना रिपोर्ट में भी नहीं पाया जाता। के.एस. सिंह की किताब *पीपुल ऑफ़ इंडिया : उत्तर प्रदेश* में इनका उल्लेख उत्तर प्रदेश की अनुसूचित जातियों में किया गया है।[17]

ये दलित समुदाय इसलिए भी बहिष्कृत हैं क्योंकि वोट बैंक की राजनीति में भी ये अपना दबाव नहीं बना सकते। इनकी राजनीतिक सहभागिता भी अत्यंत कम है। राजनीति में प्रतिनिधित्व न होना और इनके समुदायों से किसी बड़े नेता के न उभरने का मुख्य कारण इनमें जागरूकता और शिक्षा की कमी होना है। इन समुदायों से कोई आंगिक (ऑर्गनिक) नेतृत्व अभी तक नहीं उभरा है। ये समुदाय अब भी सीमांत हैं और अन्य आक्रामक जातियों की भाँति किसी भी अधिकार का लाभ नहीं उठा पा रहे हैं।[18]

क्यों कुछ समुदाय, जैसे चमार और पासी, लोकतांत्रिक विमर्श और राजनीति में महत्त्वपूर्ण हो गये हैं? ऐसा कहा जा सकता है कि इसका कारण इनकी जनसंख्या अधिक होना है। लेकिन केवल जनसंख्या ही इसका निर्णायक तत्त्व नहीं है। यद्यपि यह एक अकाट्य तर्क है, पर ज़रूरत है अन्य प्रक्रियाओं पर ध्यान देने की जो उपेक्षित समुदायों को पहचान दिलाती हैं। अगर लोकतंत्र में जनसंख्या ही एकमात्र निर्णायक तत्त्व होता तो 1901 की जनगणना में चमार को ब्राह्मण से ज़्यादा बड़ी जाति का दर्जा दिया जाता।

---

17 के.एस. सिंह (सम्पा.) (2005), वही.

18 बसोर खेती करते हैं, टोकरी बनाते हैं, साड़ी बुनते हैं और पशुपालन भी करते हैं. बाल विवाह और पुनर्विवाह का प्रचलन भी इनमें है. डोम को मुख्यधारा के समुदाय से अछूत बता कर पृथक कर दिया जाता है. वे मुर्दाघाटों पर एवं मुर्दाखोर का काम करते हैं. वे रस्सी एवं टोकरी बुनने का भी कार्य करते हैं. मुसहर ज़्यादातर मध्य और पूर्वी उत्तर प्रदेश में पाये जाते हैं. वे या तो लकड़हारे का काम करते हैं या फिर खेती बाड़ी में लगे हैं. एक समय मुसहर चूहे पकड़ने का काम करते थे. हिंदी में भुईयार का तात्पर्य जमींदार है. यह मुण्डा आदिवासी का एक समूह है जो 16वीं शताब्दी में दक्षिणी उत्तर प्रदेश में बस गये थे. वे कड़े तौर पर सजातीय हैं और इनमें बहिर्विवाह की प्रथा है। भुईया दो सजातीय समूहों में बँटे हैं. दलितों में बाँसफोर जाति का नाम दो हिंदी शब्दों से उपजा है— बाँस एवं फोर. डोम जाति के सात समुदायों में से ये एक हैं.

क्यों कुछ समुदाय, जैसे चमार और पासी, लोकतांत्रिक विमर्श और राजनीति में महत्त्वपूर्ण हो गये हैं? ऐसा कहा जा सकता है कि इसका कारण इनकी जनसंख्या अधिक होना है। लेकिन केवल जनसंख्या ही इसका निर्णायक तत्त्व नहीं है। यद्यपि यह एक अकाट्य तर्क है, पर ज़रूरत है अन्य प्रक्रियाओं पर ध्यान देने की जो उपेक्षित समुदायों को पहचान दिलाती हैं। अगर लोकतंत्र में जनसंख्या ही एकमात्र निर्णायक तत्त्व होता तो 1901 की जनगणना में चमार को ब्राह्मण से ज़्यादा बड़ी जाति का दर्जा दिया जाता। इन सबके बावजूद चमारों को भारत के स्वतंत्रता-पूर्व राष्ट्रीय संघर्ष और औपनिवेशिक काल के बाद की लोकतांत्रिक राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक उपस्थिति नहीं माना गया। वास्तव में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में 1901 की जनगणना में चमारों को विभाजन से पूर्व उत्तर-पश्चिम क्षेत्र और अवध में सबसे बड़ी जाति दर्शाया गया, जबकि ब्राह्मणों को दूसरा स्थान प्रदान किया गया। जाटव (चमारों की एक उपजाति) ने अपने आपको चमारों से अलग कर अन्य चमार जातियों से ख़ुद को उच्च माना।[19]

1990 के दौरान उत्तर प्रदेश की राजनीति में चमार एक सशक्त जाति के रूप में उभरे। ये सामाजिक और राजनीतिक सच्चाइयाँ हमें राजनीति में बहुसंख्यकों की हमारी समझ को नये सिरे से देखने को विवश करती हैं। यहाँ पर ये ध्यान देने की ज़रूरत है कि किस तरह जनसंख्या के बाहुल्य ने इनका निर्माण एक संस्था के रूप में किया और कैसे इन दलित समुदायों में एक इच्छाशक्ति जागी जो उनके लिए अपने ऊपर थोपी गयी सामाजिक संरचना को नकारने में मददगार साबित हुई। यह सामाजिक बंधन विभिन्न ऐतिहासिक कारणों से उपजा था, जो वर्तमान समय में राजनीतिक रूप लेता गया। तीन प्रभावशाली जातियों को अत्यधिक फ़ायदे मिले। चमारों ने अब अपनी जगह सरकारी नौकरियों, व्यापार और खेती में बना ली है। यह जाति अब राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में काफ़ी आगे निकल गयी है। पासी समुदाय को मुख्यतः योद्धा जाति कहा जाता है। आज के समय में पासी बड़े ओहदे के अफ़सर और राजनीतिज्ञ भी हैं। धोबी कपड़े धोने के काम में लगे हैं। वे खेती, पशुपालन और अन्य गतिविधियों में भी लगे हुए हैं। इन जातियों ने अपने आपको शिक्षा से जोड़ा है और लोकतांत्रिक राजनीति में काफ़ी सक्रिय हैं। इनके अपने सामुदायिक नेता हैं और जातीय इतिहास भी हैं। इनके पास अपना लिखित इतिहास या जाति के उद्भव का ठोस इतिहास है। ये अपने जाति के इतिहास द्वारा अपनी उपस्थिति व अस्तित्व को स्वीकार्य बनाना चाहते हैं। उनके अपने समुदाय के लोगों द्वारा लिखी पुस्तकों में उनके दुख, अपमान और उत्पीड़न को तथा प्रभावशाली लोगों द्वारा राष्ट्र और समाज में उनके योगदान को नकारने का वर्णन है। ये जातियाँ दलित समुदाय के भीतर से और बाहर से भी अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत हैं। ये लोग जनतंत्रीकरण में भागीदारी के लिए अपनी आवाज़ उठाने का कार्य अपने जातिगत इतिहास और अन्य प्रतीकात्मक साधनों द्वारा कर रहे हैं।

III

चमारों का उद्भव

यहाँ हम यह बताना चाह रहे हैं कि चमारों (सारे चमार नहीं) ने अपनी स्वप्नदर्शिता को कैसे विभिन्न सामाजिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के दौरान प्राप्त किया। यह पूरी प्रक्रिया भारतीय राष्ट्र और समाज के निर्माण के दौरान उपजी। इच्छा करने की सामर्थ्य,[20] जातिगत स्वप्न, यह सब इस

---

[19] एम. लायंच ओवेन (1974), *दि पॉलिटिक्स ऑफ़ अनटचेबिलिटी,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली : 30.

[20] यह अर्जुन अप्पादुरै की अभिव्यक्ति है, पर यहाँ उसका प्रयोग इस अनुसंधान के लिहाज़ से अर्थविस्तार करते हुए किया गया है

सामाजिक परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण कारक थे। इच्छा करने की सामर्थ्य किसी भी समुदाय में हो तो वह उस समुदाय के एक न्यूनतम आर्थिक विकास और सामाजिक अस्मिता को दर्शाता है। न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने की सामर्थ्य होने के बाद ही किसी समुदाय के अन्दर इच्छा, स्वप्न, अच्छे जीवन की चाहत, गर्व, अस्मिता जैसी भावनाएँ उपजती हैं। यह इच्छाशक्ति उन्हें भाषा प्रदान करती है जिसके द्वारा समाज और लोगों में उनके लिए सम्मान की भावना पैदा होती है। यह सम्मान विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं, प्रतिनिधित्व तथा जातीय समीकरणों द्वारा समाज और राजनीति में प्राप्त किया जाता है। ये प्रक्रियाएँ उन्हें लोकतांत्रिक समाज में दृश्यमान बनाती हैं जिससे उन्हें मोल-तोल की शक्ति प्राप्त होती है। इसी प्रक्रिया के दौरान वे विभिन्न रूपक, मुहावरे, दृश्य-छवियाँ, भाषा और अन्य माध्यमों का निर्माण करते हैं जो उन्हें राज्य से वार्ता के दौरान मदद करते हैं। कई बार भाषा वह होती है जो राज्य समझता है, वह राज्य या सत्ता की भाषा होती है।[21] इस प्रक्रिया के दौरान यह अदृश्य समूह लोकतांत्रिक लोक में सामाजिक इकाई के रूप में उभरता है जो कि कालान्तर में उपस्थिति की राजनीति से चलता हुआ सीमांत समूह के प्रतिनिधित्व की राजनीति में परिवर्तित होता है। चमार जाति ने अपने इतिहास के दौरान स्वप्न देखने की शक्ति द्वारा ही अपने को मज़बूत बनाया। इसी शक्ति से इनके चिंतक और नेता कांशीराम ने उपस्थिति की राजनीति को प्रतिनिधित्व की राजनीति में बदला।

चमारों का मुख्य जातिगत व्यवसाय मुर्दा पशुओं के चमड़े द्वारा विभिन्न वस्तुओं का निर्माण करना था। शुरू से ही यह समुदाय इस पेशे में लगा था। चर्मना शब्द का उल्लेख ऋग्वेद और अन्य वैदिक साहित्य में मिलता है। आर्यों के समय से ही वे गाँव के बाहर नीच पेशों में संलग्न रह कर जीविकोपार्जन करते थे। ग्रामीण जीवन में चमारों का शोषण होता था। इसी कारण उनमें बाहर जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई और अन्य दलित जातियों की अपेक्षा चमारों में प्रवसन अधिक पाया गया। ग्रामीण क्षेत्र से शहरी जीवन में गतिशीलता ने उनके सामाजिक व आर्थिक जीवन स्तर को समृद्ध किया। 18वीं सदी के मध्य तक चमार युरोपियनों द्वारा शहरों और क़स्बों में छोटे और गंदे कार्यों के लिए नियुक्त किए जाते थे परंतु चमार बेहतर आर्थिक जीवन के इच्छुक थे। इसलिए उन्होंने प्रवसन किया। उन्होंने अपने पारम्परिक व्यवसाय के अलावा अन्य व्यवसाय, जैसे घास काटना, घोड़ा चलाना और संगीत चुना। चमार औरतें दाई के काम में लगी थीं। वे नवजात शिशुओं की नार काटा करती थीं। चमारों की एक उपजाति जैसवार, जौनपुर और आज़मगढ़ से लेकर कलकत्ता और पेशावर तक घोड़े की मालिश का कार्य करती थी। कुछ जैसवार प्लासी के युद्ध के दौरान क्लाइव की सेना में भी थे।[22]

नीच कार्यों से छुटकारा और शिक्षा का प्रसार

चमारों की दो मुख्य उपजातियाँ, जाटव और जैसवार हैं। जाटवों का बाहुल्य उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में पाया जाता है तथा जैसवार पूर्वांचल की दलित जाति है। ये दोनों उपजातियाँ जातीय तरतमता में उच्च सामाजिक स्थिति होने का दावा करती हैं। जाटव जाति में काफ़ी लोग अच्छी स्थिति में हैं। 1920 में प्रकाशित जाति संबंधी नृजातिवर्णन के आधार पर ब्रिग्स ने बताया है कि उस समय भी जाटव समुदाय एक प्रतिष्ठित समुदाय के रूप में स्थापित हो चुका था। इनमें से कुछ लोग शाकाहारी बन गये ताकि वे अस्पृश्यता के दंश से अपने आपको मुक्त कर सकें। ये चमार समुदाय के अंतर्गत सामाजिक गतिशीलता की एक और अभिव्यक्ति है। जैसवारों ने श्रेष्ठ होने का दावा नीच कार्य न करने और अच्छी आर्थिक स्थिति होने के आधार पर किया।

---

[21] अर्जुन अप्पादुरै (2004), 'दि कैपेसिटी टु ऐस्पायर : कल्चर एण्ड दि टर्म्स ऑफ़ रिकॉग्निशन इन कल्चर एण्ड पब्लिक एक्शन', विजयेंद्र राव और माइकल वाल्टन (सम्पा.), *कल्चर एण्ड पब्लिक एक्शन,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत : 59-84.

[22] जार्ज वेस्टन ब्रिग्स (1920), *दि चमार्स,* एसोसिएटिड प्रेस, कलकत्ता : 22.

दलितों का एक भाग अट्ठारहवीं शताब्दी में यूरोपियनों के करीब था। ये दलित पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आये। चूँकि चमार शासकों और सत्ता-केंद्र के क़रीब थे, इसलिए उन्हें बहुत सारे लाभ मिले। उन्हें अंग्रेज़ी और अन्य यूरोपियन भाषाएँ सीखनी पड़ीं। जीवनयापन के लिए शिक्षा उनके लिए अतिआवश्यक थी। शिक्षा ने उनकी सोचने की क्षमता को और प्रगाढ़ किया। उनके बीच में से बुद्धिजीवी निकले।

यह उल्लेख्य है कि 20वीं शताब्दी के मध्य में नारा मवेशी आंदोलन के उद्‌भव ने चमारों पर एक सार्थक असर डाला। चमारों ने ख़ुद को जाति-आधारित नीच पेशों से आज़ाद करने का प्रयास करते हुए अपने इच्छानुसार पेशे का चुनाव करने के लिए मूलाधिकारों का प्रयोग किया। नीच पेशों से मुक्ति हासिल करने के उपरांत उन्हें समाज में प्रतिष्ठा मिली। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जाटवों (चमारों की एक उपजाति) ने पश्चिम और मध्य उत्तर प्रदेश (आगरा और कानपुर) में ख़ुद को नीच कार्यों से आज़ाद कर लिया था। चमारों को अब भी संघर्ष करना पड़ रहा था और उन्हें मुक्ति तीन दशक बाद 1950 में मिली।

जिन चमारों ने ख़ुद को नीच कार्यों से मुक्त कर लिया उन्हें ऊर्ध्वगामी सामाजिक गतिशीलता हासिल हुई, किंतु यह समुदाय उन चमारों को बहिष्कृत करने लगा जो अब भी पारम्परिक जाति-आधारित पेशों में लिप्त थे। चमारों में भी एक जाति-आधारित तरतमता बनने लगी।[23] उनका पेशा उनके अंत:सामूहिक विवाहों में भी

[23] चमारों में उपजाति चमार शामिल हैं जो केवल मेरठ और रुहेलखण्ड में पायी जाती हैं. यह सामाजिक क्रम में सबसे नीचे हैं. ये खेती करते हैं, जूते बनाते हैं, चमड़े का काम करते हैं और सूअर का मांस खाते हैं. दोहरे उस समय पीलीभीत, खीरी, शाहजहाँपुर, हरदोई, कानपुर इत्यादि में निवास करते थे. वे न तो सूअर पालते थे न ही उसका माँस खाते थे. कुरील इलाहाबाद, लखनऊ और उन्नाव में बसते हैं. वे चमड़े का काम करते थे और खेत में मज़दूरी करते थे. वे गंगा नदी के पश्चिमी तट पर रहते थे और नदी के दूसरे तट पर रहने वालों से उनका कोई सामाजिक सरोकार नहीं था. वे मरे हुए घोड़ों या ऊँट को नहीं छूते थे, बल्कि सूअर पालते थे और उनका मांस खाते थे. अन्य उपजातियों में पुरबिया, कोरी या कोली, धूसिया या झूसिया, चमकटिया, दुसाध, कैयान, रंगिया इत्यादि शामिल हैं. ब्रिग्स (1920): 24-25.

बाधा उत्पन्न करने लगा। जो लोग खाद और गोबर का कार्य करते थे वे सई से अंतर्विवाह नहीं कर सकते थे। जाटव जो जानवरों की हड्डियाँ और चमड़े का कार्य करते थे, उनका विवाह रैदासी से नहीं होता था। इसी तरह वे जाटव, जो गंदे पशुओं के चमड़े का कार्य करते थे, उनसे विवाह नहीं कर सकते थे जो इस कार्य में लिप्त नहीं थे। ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें कुरील, जो चमड़े का कार्य करते थे, उनसे शादी नहीं कर सकते थे जो जूते बनाते थे। अत: सामाजिक स्तरीकरण के अंतर समुदायों के भीतर भी प्रचलित हैं। इस अंतर और बाह्य समूहों के बीच तनाव के बावजूद चमार समुदाय ने काफ़ी उन्नति की। प्रवसन के कारण इनमें ऊर्ध्वगामी गतिशीलता हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक अस्पृश्य जातियाँ, ख़ासकर चमार, नीच कार्य करने हेतु ग्रामीण क्षेत्रों से इलाहाबाद, वाराणसी, कानपुर और लखनऊ की ओर प्रवसन करने लगीं। 1857 के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सैन्य और लोक प्रशासन का केंद्र क़स्बे बनने लगे। इन्हें घरेलू नौकरों और सेवकों की आवश्यकता थी। हिंदू इस तरह के कार्य करते थे। कानपुर में चमार सरकार और ब्रिटिश उद्यमियों द्वारा स्थापित चमड़े की फ़ैक्ट्रियों और चर्मशोधनालयों में कार्यरत थे।[24]

दलितों का एक भाग अट्‌ठारहवीं शताब्दी में युरोपियनों के क़रीब था। ये दलित पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आये। चूँकि चमार शासकों और सत्ता केंद्र के क़रीब थे, इसलिए उन्हें बहुत सारे लाभ मिले। उन्हें अंग्रेज़ी और अन्य युरोपियन भाषाएँ सीखनी पड़ीं। जीवनयापन के लिए शिक्षा उनके लिए अति आवश्यक थी। शिक्षा ने उनकी सोचने की क्षमता को और प्रगाढ़ किया। उनके बीच में से चमार बुद्धिजीवी निकले। इन चमार बुद्धिजीवियों ने सुधारवादियों के पश्चिमी अनुसरण व क्रांति के बाद उपजे सामाजिक क्रम पर प्रश्न उठाया। औपनिवेशिक काल में मिशन स्कूलों के विकास ने दलितों के मध्य शिक्षा के प्रसार में ख़ासी भूमिका अदा की। औपनिवेशिक काल के दौरान काफ़ी बुद्धिजीवी और अन्य दलित चमारों ने शिक्षा हासिल की क्योंकि उनके परिजन सेना में कार्यरत थे। इसका श्रेय फ़ौज को जाता है चूँकि फ़ौज ने बालक-बालिकाओं की शिक्षा मुफ़्त और अनिवार्य कर दी थी। अगर माता-पिता अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजते थे तो उन्हें दंड देना पड़ता था। परंतु इस व्यवस्था को 1857 के विद्रोह के बाद ख़त्म कर दिया गया।[25]

औपनिवेशिक काल के दौरान जाति-सभाओं ने समाज को सुधारने और शिक्षा के प्रसार का मिशन शुरू किया जिसने दलितों को शिक्षा प्रणाली से जुड़ने के लिए प्रेरित किया। पूर्वी भारत में भारत संत समाज, भारतीय दुसाध समाज, बिहार रजक संघ, जाटव वीर महासभा, जात-पाँत तोड़क मंडल, मुसहर सेवक संघ इत्यादि की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।[26] जब महात्मा गाँधी ने हरिजन सेवाश्रम के माध्यम से अस्पृश्यों की उन्नति के लिए अभियान चलाया तो काफ़ी दलित कार्यकर्ताओं ने शिक्षा हासिल की और ख़ुद को गाँधी की राष्ट्रीयता से जोड़ा। साथ ही साथ, हिंदू रुझान वाले राष्ट्रीय नेताओं जैसे मदन मोहन मालवीय, ने भी अपने ढंग से दलितों को शिक्षित करने में मदद की। आर्य समाज द्वारा स्थापित शिक्षा संस्थानों ने, ख़ासकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश में, चमारों की उपजाति जाटवों को शिक्षित करने में अहम भूमिका निभायी।

शिक्षा के प्रसार के कारण चमारों के मध्य से बुद्धिजीवी वर्ग निकला जो कि दलित-मध्य वर्ग की तरह स्थापित हुआ। इसकी शुरुआत 1920 के दौरान हुई। शिक्षित चमारों ने समाज में अपनी एक जगह बनायी जबकि अन्य जातियाँ ऐसा करने में नाकाम रहीं। औपनिवेशिक काल के दौरान

---

[24] ऐन. गुप्तु (2006), *स्वामी अछूतानंद एण्ड दि आदि हिंदू मूवमेंट,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 4-5.

[25] श्योराज सिंह (1997): 177.

[26] प्रसन्न कुमार चौधरी और श्रीकांत (2005), *स्वर्ग पर धावा : बिहार में दलित आंदोलन (1912-2000),* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

इलाहाबाद के क्षेत्र से निकले बुद्धिजीवियों में से काफ़ी दलित थे जो खटिक, भंगी, पासी, धोबी और ऐसी अन्य निम्न जातियों से थे। लेकिन चमार समुदाय से निकले बुद्धिजीवी अन्य समुदायों की तुलना में बहुत ज़्यादा थे। ऐसे कुछ चमार बुद्धिजीवी थे— खेमचंद बोहरे (1875–1960) आगरा से, हापुड़ से चौधरी मुल्कीराम (1910–54), इलाहाबाद से चौधरी नंद लाल (1862–1943), बरेली से धर्म प्रकाश (1900–1956), आगरा से मानिकचंद्र जाटवबीर (1897–1956), घाटमपुर और उन्नाव से करन सिंह केन (1898–1990), पूरन चंद्र (1900–70), आगरा से सुंदरलाल सागर (1896–1952), प्यारे लाल कुरील (1916–84), कानपुर से गोपी चंद्र पीपल (1901–89), शाहजहाँपुर लखनऊ से साधु जिताऊ, फ़र्रुख़ाबाद से स्वामी अछूतानंद (1879–1933), आगरा से स्वामी प्रभुतानंद व्यास (1901–1950), और राम नारायण यादवेंदु (1909–1951)।[27]

अगर हम इन लेखकों का जीवन-इतिहास पढ़ें तो हमें पता चलेगा कि इन सबने अपनी शिक्षा एक ऐसी समाज सुधार संस्था से हासिल नहीं की, जो केवल किसी एक व्यक्ति की विचारधारा से प्रेरित हो, वरन ये कई विचारधाराओं से प्रेरित थे। बाबू राम चरन ने अपनी शिक्षा लखनऊ के एक अंग्रेज़ी मिशन स्कूल से हासिल की और खेमचंद बोहरे ने आगरा के सेंट जॉन्स कॉलेज से अपनी शिक्षा पूरी की। चौधरी मुल्की राम की शिक्षा आर्य समाज द्वारा प्रवर्तित एक स्कूल में हुई। चौधरी नंद लाल इलाहाबाद के राजकीय हाईस्कूल में पढ़े। धर्मप्रकाश आर्य समाजी स्कूल में पढ़े और मानिकचंद आगरा के सेंट जोंस कॉलज से पढ़े। प्यारे लाल कुरील के पिता ब्रिटिश सेना में थे इसलिए उन्हें ब्रिटिश अफ़सरों ने भी मदद प्रदान की। महादेव प्रसाद ने डुमारी कोठी के राजकीय मिडिल स्कूल में पढ़ाई की। यह एक रोचक बात है कि सुंदर लाल सागर ने, जो एक महत्त्वपूर्ण दलित बुद्धिजीवी थे, कोई औपचारिक शिक्षा हासिल ही नहीं की।

दलितों के बीच शिक्षा के प्रसार में डॉ. आम्बेडकर ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। वे कहते थे कि शिक्षा ही सारे दलित संकटों का समाधान है। समाज सुधार में शिक्षा को एक महत्त्वपूर्ण रणनीति के रूप में खड़ा कर आम्बेडकर ने दलित मुक्ति के लिए ज्ञान का एक औज़ार की तरह उपयोग करने के लिए कहा। भारतीय जाति-प्रथा में जहाँ दलितों को शिक्षा से वंचित रखा गया, वहीं आम्बेडकर का दलितों को शिक्षा से जोड़ने का अभियान एक शक्तिशाली औज़ार के रूप में उभरा। ज़्यादातर चमार जो मज़दूरी करने के लिए कोलकाता और मुम्बई की ओर प्रवसन कर गये थे, वे वापस अपने गाँवों को लौट आये। वे आम्बेडकर के विचारों से अत्यंत प्रभावित थे और उन्होंने अन्य लोगों को भी अपने बच्चों को शिक्षित करने के लिए प्रोत्साहित किया।

चमार जनता के उद्‌भव को, बेहतर जीवन व सम्मान की इच्छा, जो कि विभिन्न ऐतिहासिक चरणों से गुज़रते हुए आधुनिक भारत के दलितों में उत्पन्न हुई, से भी जोड़ कर देखा जाता है। सवाल न सिर्फ़ शिक्षा हासिल करने का है अपितु चमारों के एक भाग के बुद्धिजीवी समुदाय बनने का भी है। उनके लिए शिक्षा मात्र नौकरी पाने का साधन नहीं है। उन्होंने शिक्षा का उपयोग अपने सम्मान, जागरूकता और आलोचनात्मक चेतना के विकास के लिए किया जो उनके राजनीतिक ज्ञान के निर्माण में सहायक हुआ तथा दलितों की मुक्ति के मिशन में महत्त्वपूर्ण कारक बना। आम्बेडकर मानते थे कि वे लोग जो अपना धर्म फैलाने के लिए दूसरों को शिक्षित करते हैं, वे उन लोगों से बेहतर होते हैं जो दूसरों को शिक्षित होने से रोकते हैं, यद्यपि वे स्वतंत्र चिंतन के विकास में बाधक होते हैं। धार्मिक विचारों के प्रसार के लिए दी जाने वाली शिक्षा से वंचित लोगों को शिक्षा हासिल करने में मदद मिली।[28] आम्बेडकर के लिए सारी दलित समस्याओं का समाधान शिक्षा है। समाज सुधार में

---

[27] आर.के. क्षीरसागर (1994), *दलित मूवमेंट इन इंडिया एण्ड इट्स लीडर्स,* एम.डी. पब्लिकेशन, दिल्ली : 372.

[28] बी.आर. आम्बेडकर (1989), *राइटिंग्ज़ एण्ड स्पीचिज़ ऑफ़ डॉ. बी.आर. आम्बेडकर,* डिपार्टमेंट ऑफ़ एजुकेशन, बंबई, महाराष्ट्र सरकार.

शिक्षा को एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा बना कर आम्बेडकर ने दलित मुक्ति में ज्ञान का एक औज़ार की तरह उपयोग किया।

भारतीय जाति-प्रणाली में जहाँ दलितों को शिक्षा से वंचित रखा गया, वहीं आम्बेडकर दलितों को शिक्षा से जोड़ने वाली मुहिम में एक शक्तिशाली प्रतीक के रूप में उभरे। औपनिवेशिक काल के सम्पूर्ण भारत में भी काफ़ी दलित समुदाय दलित कालोनियों में स्थापित आम्बेडकर पुस्तकालयों और आम्बेडकर ट्रस्ट के ज़रिये शिक्षा हासिल कर प्रगति करने लगे। 1935-36 में एक पंजीकृत आम्डेकर पुस्तकालय की स्थापना इलाहाबाद में कर ली गयी थी।

इस संदर्भ में यह जानना रोचक होगा कि डॉ. आम्बेडकर से पूर्व स्वामी अछूतानंद के आदि हिंदू आंदोलन ने उत्तर प्रदेश में आदि हिंदू स्कूल और आदि हिंदू छात्रावास स्थापित किये थे ताकि वे इस आंदोलन को उत्प्रेरित कर दलितों को शिक्षा का लाभ दिला सकें। इस आंदोलन के अंर्तगत इसके सदस्य अति ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करने वाले दलितों को प्रेरित करने लगे कि वे अपने बच्चों की शिक्षा के लिए रोज़ मुट्ठी-भर अनाज अलग रख दें। स्वामी अछूतानंद ने दलितों को प्रेरित किया कि वे अपनी माँगें ब्रिटिश सरकार को पोस्टकार्ड और चित्रकारी द्वारा भेजें। अपनी लेखनी से उन्होंने दलित समुदाय को एक विद्रोही संस्कृति के विकास के लिए प्रेरित किया। उन्होंने उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों में छापाख़ाने लगाये जो अख़बार और छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित करते थे ताकि दलित अपना विद्रोह जता सकें। ये अख़बार और पुस्तिकाएँ दलित विद्रोह और विद्रोही स्तर के प्रसार में मददगार हुए। इनके और अन्य सुधारवादियों, जैसे बालानकर, फुले और आम्बेडकर द्वारा शिक्षा हासिल कर संघर्ष करने (आम्बेडकर का लोकप्रिय नारा) की प्रेरणा से दलित शिक्षा और ज्ञान से जुड़े।

दलितों के मौखिक इतिहास का अध्ययन बताता है कि इलाहाबाद, कानपुर और लखनऊ के दलित-बहुल समूह के एक भाग के शिक्षा हासिल कर बुद्धिजीवी बनने में कई महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाएँ सहयोगी थीं। जैसे शहरों की ओर प्रवसन और छावनी क्षेत्र में बसना। इसको एक 'छावनी तथ्य' के रूप में देखा जा सकता है। छावनी और ब्रिटिश सैन्य अफ़सर उन दलितों को शिक्षित करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे जो उनके यहाँ घरेलू नौकर थे। ऐसे ही एक दलित बुद्धिजीवी और लोकप्रिय लेखक बौद्धाचार्य एस. राव संजीवन नाथ अपने छावनी के दिनों के बारे में याद करते हुए कहते हैं :

> हम लोग छावनी क्षेत्र में रहते थे। मेरे पिता ब्रिटिश सैन्य अफ़सर के घर में काम करते थे। सैन्य अफ़सर ने ख़ुद मेरा और मेरे भाई बहनों का दाख़िला स्कूल में करवाया। मैं यह बताना चाहूँगा कि ब्रिटिशों के मन में कोई जातीय भेदभाव नहीं था जो कि ऊँची जातियों में मौजूद था। ये जातियाँ सोचती थीं कि एक अस्पृश्य की छाया भी उन्हें गंदा कर देगी। बचपन से ही हमने एक परिवार के सदस्य को ब्रिटिश अफ़सरों के जूते साफ़ करते देखा, जबकि एक और सदस्य को उनके बच्चों को खिलाते देखा। हम लोग उनके साथ उनके परिवार का एक हिस्सा बन कर रहते थे। हम लोग पिजिन अंग्रेज़ी का प्रयोग करते थे जिसको गरौटी अंग्रेज़ी कहा जाता था। 'गरौटी' शब्द 'गोरा' से उपजा है। वास्तव में वे दलित जो गरौटी अंग्रेज़ी बोलते थे उनकी दलित कालोनी में निवास करने वाले अन्य दलित काफ़ी इज़्ज़त करते थे। हम लोगों ने गरौटी अंग्रेज़ी बिल्कुल उस तरह सीखी जैसे बच्चे बिना पढ़े-लिखे अपनी मातृभाषा सीख जाते हैं। हम में से जो गरौटी अंग्रेज़ी जानते थे, उन्होंने बाद में शिक्षा हासिल करने के दौरान अंग्रेज़ी सीखी। अंग्रेज़ों के कारण ही दलितों के अन्दर शिक्षा हासिल करने की चाहत पैदा हुई। छावनी छोड़ने के बाद कुछ शिक्षित बुद्धिजीवी चमार, अपने समुदाय की मुक्ति के लिए काम करने लगे। ये सारे लोग मानते थे कि दलितों में शिक्षा का प्रसार ही उन्हें मुक्ति दिला सकता है। हम लोगों की कालोनी में राव साहब ककरनी नामक एक बुद्धिजीवी रहते थे जो अपने घर में एक आम्बेडकर पुस्तकालय चलाते थे। अन्य बुद्धिजीवी भी थे जैसे, बिहारी लाल और डॉ. नंद लाल जैसवार जो काफ़ी ज्ञानी थे। वे दलितों के पढ़ने के लिए छोटी पुस्तकें लिखा करते थे। एक पुस्तिका जो उस दौरान काफ़ी लोकप्रिय थी वह है 'दलितों की

आवाज़ बाबू के सामने।' यह सब दर्शाता है कि ब्रिटिश काल के दौरान भी काफ़ी संख्या में चमार शिक्षित और बुद्धिजीवी थे।[29]

ये चमार बुद्धिजीवी अपने समुदाय का नेतृत्व करते थे। पुस्तिकाएँ लिखते और बेचते थे। पत्रिकाओं और अख़बारों में लिखते थे। ऐसा करके वे अक्सर समुदाय के सुधार के लिए अपना जीवन ख़तरे में डालते थे। यह प्रक्रिया देश को ब्रिटिश राज्य से मुक्ति दिलाने के पूर्व ही शुरू हो गयी थी। 1917 में उत्तर प्रदेश में हिन्दी दलित-पत्रकारिता का प्रारम्भ स्वामी अछूतानन्द के *अछूत* से हुआ था। 1924 में संतराम बी.ए. ने मासिक पत्रिका *उषा* निकाली। स्वामी अछूतानन्द की *आदि हिंदू* 1928 में निकली। जून, 1934 को मुंशी हरि प्रसाद टमटा ने हिन्दी साप्ताहिक *समता* की शुरुआत की। दयानन्द व्यास ने 1957 में हिन्दी साप्ताहिक *सिंहनाद* शुरू किया। 1962 में मेवाराम महासे ने अलीगढ़ से *ज़मीन के तारे* प्रकाशित किया जबकि बलबीर सिंह आज़ाद ने सितम्बर 1966 में बुलंदशहर से एक हिंदी साप्ताहिक *शोषित पुकार* प्रकाशित किया। हिंदी साप्ताहिक *स्वाधीन भारत* 1968 में अलीगढ़ से प्रकाशित हुआ। मोहनदास नैमिशराय ने मेरठ से दो पत्रिकाएँ, एक साप्ताहिक *समता शक्ति* और एक पाक्षिक, *बहुजन अधिकार* क्रमश: 1972 और 1981 में प्रकाशित किये।[30]

इन छोटी पुस्तिकाओं के लेखक (अख़बारी कागज़ों पर छापी गयी पुस्तिकाएँ) अधिकतर मध्यवर्ग के शिक्षित चमार थे जो दलित सशक्तीकरण का प्रत्यय इस समुदाय के ज़मीनी लोगों के बीच फैलाना चाहते थे। समाज में इनकी मध्यम या उच्च मध्यम हैसियत थी। इस तरह के लेखक पूरे उत्तर प्रदेश में पाये जाते हैं और अपनी किताबों के माध्यम से दलित-चेतना का संदेश फैलाने में काफ़ी मेहनत करते हैं। इन पत्रिकाओं और छोटी पुस्तिकाओं ने दलितों को अपनी अस्मिता दर्ज कराने में मदद की और एक दलित पब्लिक के माध्यम से उनके राजनीतिक सशक्तीकरण के लिए रास्ता खोला।

उनकी अपनी राजनीति का उद्भव

स्वतंत्रता के पश्चात उत्तर प्रदेश में जो दलित-राजनीति उभरी उसमें चमार बुद्धिजीवी और उनके सामुदायिक नेता सामने आये। उनमें लोकतांत्रिक सहभागिता, शक्ति और बेहतर और सम्मानित जीवन जीने की इच्छा जाग्रत हुई। चूँकि इस तरह के नेता अन्य दलित समुदायों में नहीं थे, इसलिए चमारों में लोकतंत्र और राज्य के फ़ायदे उठाने की बेहतर मोल-तोल क्षमता थी।

दलित-मुक्ति का प्रत्यय राज्य-शक्ति, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और इन शक्तियों के द्वारा इज़्ज़त पाने के इर्द-गिर्द बुना हुआ था। दलित-चिंतकों द्वारा बराबरी हासिल करने की संकल्पना प्रतिनिधित्व के अधिकार और राज्य के अधीन कार्यरत होने के अधिकार के द्वारा की गयी।[31] आम्बेडकर अक्सर कहते थे कि दलितों को राजनीतिक शक्ति मिलनी चाहिए और यही उन्हें मुक्ति दिलाने वाला कारक होगा।[32] उनके अनुसार, दलितों के पास अधिकार नहीं थे, सो वे राजनीतिक शक्ति हासिल कर सकते थे। लोकतांत्रिक समाज में राजनीतिक शक्ति ने (अब भी) दलितों के विकास और उन्हें पहचान दिलाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसलिए आम्बेडकर सोचते थे कि बिना एक राजनीतिक

[29] बौद्धाचार्य एस.राव संजीवन नाथ से लेखक का साक्षात्कार, इलाहाबाद, 12 जुलाई, 2006.

[30] श्योराज सिंह बेचैन (1997): 252-56.

[31] गेल ओम्बेट (1994), *दलित एण्ड दि डेमॉक्रैटिक रेवॉलूशन : डॉ. आम्बेडकर एण्ड दि दलित मूवमेंट्स इन कोलोनियल इंडिया,* सेज, नयी दिल्ली : 146.

[32] आर.के. क्षीरसागर (1992), *पॉलिटिकल थॉट ऑफ़ डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर,* इंटेलेक्चुअल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली : 113.

समूह बने दलितों को मुक्ति नहीं मिल सकती थी।[33] आगरा में जाटवों की आवाज़ सशक्त हो रही थी क्योंकि वे चमड़े के काम में लग गये थे। बीसवीं शताब्दी के आते-आते, दोनों विश्वयुद्धों के बाद आगरा के जूतों का बाज़ार न सिर्फ़ भारत में, बल्कि विदेशी बाज़ारों जैसे, इराक़, ईरान और ईस्ट इंडीज़ में भी फैल गया था।[34] 1947 में शांतिपूर्ण बँटवारे के बाद रूस, जर्मनी और फ़ैशनप्रिय न्यूयॉर्क भी इसमें जुड़ गया। (1955 से 1963 तक)। जाटव कुटीर उद्योग को व्यापार के इस उछाल से काफ़ी फ़ायदा हुआ। इस आर्थिक उन्नति ने जाटवों को नीच कार्यों से मुक्ति दिलाने में मदद की।[35]

आर्थिक बदलाव से जाटवों को आवासीय और व्यावसायिक पृथक्कीकरण, सामाजिक अलगाव, आर्थिक स्वतंत्रता और अन्य गतिविधियों में शामिल होने का अच्छा समय मिला। इसके कारण जाटव लोग समाज के धनी समूहों के आस-पास पहुँचने लगे और समाज के जो प्रभावी समूह थे, उनकी ही तरह उनमें भी आत्म-सम्मान और महत्त्व प्राप्त करने की चाह बढ़ गयी।[36]

किन्तु अन्य कारक भी महत्त्वपूर्ण थे। प्रवसन, युरोपियनों से संबंध, शिक्षा का प्रसार, अंग्रेज़ी का ज्ञान, व्यवसाय और पेशे में विविधता, आदि इन सब कारकों के चलते चमारों का एक मध्य वर्ग उभरा। वास्तव में कुछ ने इस सम्पन्नता का सुख भोगा और उनके पास पर्याप्त आर्थिक आधिक्य था जिसका उपयोग 20वीं शताब्दी की शुरुआत में सामुदायिक और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को मज़बूत करने के लिए किया गया। आर्थिक सम्पन्नता ने राजनीतिक आकांक्षाओं को जन्म दिया। बेहतर सामाजिक स्तर पाने के लिए जाटवों ने जाति-संगठन बनाये। 1917 में जाटव वीर महासभा का और 1924 में जाटव प्रचारक मंडल का गठन किया गया।[37] चूँकि कुछ जाटवों की शिक्षा आर्य समाजी संस्थाओं में हुई थी, इसने एक संदर्भ समूह का निर्माण किया। इस समूह के वैदिक रिवाजों, व्यवहार, रीति और विश्वास का अनुकरण अन्य जाटव करने लगे। इन लोगों ने मांसाहार छोड़ दिया और मुर्दा जानवरों की सफ़ाई करना भी छोड़ दिया। इससे उनकी सम्पूर्ण जाति के स्तर में परिवर्तन आया। एक अन्य रोचक तथ्य 1930 में स्वामी अछूतानंद का उद्भव था, जो स्वयं एक निचली जाति से थे। उनके द्वारा शुरू किये गये आदि हिंदू आंदोलन में आगरा क्षेत्र के क्षत्रिय और जाटव शामिल थे।[38] 1956 में आम्बेडकर के प्रभाव में आगरा के अधिकतर जाटवों ने बौद्ध धर्म को गले लगाया। बौद्ध बनने के बाद उन्होंने भारत के मूल निवासी होने का दावा किया जो ब्राह्मणों की दासता करने को मजबूर हुए।[39] आम्बेडकर जाटवों के सांस्कृतिक नायक बन कर निकले।[40]

जाटवों की राजनीति सुधारवादी आंदोलनों की विचारधाराओं से प्रेरित थी। उन्हें इससे इज़्ज़त मिली। बाद में ये जाटव सामुदायिक नेता के रूप में उभरे जो उन्हें आम्बेडकरवादी राजनीति में भी पहचान, सम्मान व आदर दिलाने में सफल हुई।

जाटवों की राजनैतिक आकांक्षाएँ 1958 में आगरा में रिपब्लिकन पार्टी बनने के बाद और तेज़ हुईं। यह रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़ इंडिया की एक शाखा थी जिसे आम्बेडकर ने स्थापित किया था।[41]

---

[33] वही : 115.

[34] के.बी. शर्मा (1958), *मार्केटिंग ऑफ़ लेदर गुड्स ऐट आगरा,* अनपब्लिश्ड मास्टर्स थीसिस, डिपार्टमेंट ऑफ़ कॉमर्स, बलवंत राजपूत कॉलेज, आगरा : 59.

[35] एम. ओवन लायंच (1974): 34.

[36] वही : 67.

[37] वही : 69.

[38] वही : 76.

[39] वही : 92.

[40] वही : 96.

[41] वही : 95.

इसलिए हम देखते हैं कि जाटव राजनैतिक अखाड़े में जगह पाने के लिए संघर्षरत थे। आर.पी.आई. का मुख्य आधार पारम्परिक रूप से महाराष्ट्र में रहा है, फिर भी इसने एक दबाव समूह की तरह कार्य कर सम्पूर्ण भारत में दलितों को संगठित किया। उत्तर प्रदेश के अधिकतर चमार[42] आर.पी.आई. में थे। रिपब्लिकन पार्टी का ख़ासा असर पश्चिम और मध्य उत्तर प्रदेश में आगरा से कानपुर तक देखा जा सकता था। बाद के दशकों में इसका भी फ़ायदा चमारों को मिला।

आज़ादी के बाद चमार न सिर्फ़ कांग्रेस के लिए वोट कर रहे थे, बल्कि अपने समुदाय की उन्नति के लिए उन्होंने एक दबाव समूह की तरह काम किया। चूँकि ब्राह्मणों के अलावा यह समुदाय कांग्रेस का एक प्रमुख वोट बैंक था, इसलिए इन्हें अन्य दलित समुदायों की अपेक्षा काफ़ी फ़ायदे मिले। इन्हें 'सरकारी ब्राह्मण' भी कहा गया। कांशीराम जो स्वयं पंजाब के रमदसिया चमार थे, आर.पी.आई. के सिद्धांतों द्वारा दलित समुदाय को गतिशीलता दे रहे थे। यह एक बहुत ही रोचक परिपथ था। 1965 में डिफेंस रिसर्च एंड डेवलपमेंट ऑर्गनाइज़ेशन (डी.आर.डी.ओ.) में कांशीराम ने अपने कार्यकाल के दौरान भारतीय सरकार के अनुसूचित जाति कर्मचारियों द्वारा शुरू किये गये आंदोलन में भाग लिया ताकि वे आम्बेडकर के जन्मदिवस की निरस्त छुट्टी दुबारा लागू करवा सकें। 1978 में उन्होंने बामसेफ़ (बैकवर्ड एंड माइनॉरिटी कम्युनिटी इम्पलाइज़ फ़ेडरेशन) का निर्माण किया। बामसेफ पूर्णतः एक अराजनैतिक, ग़ैर-धार्मिक और ग़ैर-आंदोलनकारी संस्था थी। 6 दिसंबर, 1981 को उन्होंने एक अन्य सामाजिक संस्था डीएस-फ़ोर (दलित शोषित समाज संघर्ष समिति) की स्थापना की। इस संस्था ने शोषित दलितों को सोचने पर मजबूर किया कि वे कब तक शोषण सहन करते रहेंगे। दलितों ने जागरूक होकर एक देशव्यापी आंदोलन शुरू किया। उन्होंने ब्राह्मण-व्यवस्था की शोषणकारी संरचना को उजागर किया। 30 अगस्त, 2001 को आर.के. चौधरी ने जिनका कांशीराम के साथ डीएस-फ़ोर के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान था, बीएस-फ़ोर (बहुजन समाज स्वाभिमान संघर्ष समिति) बनायी। इसी दौरान कांशीराम ने दलित वोटों को संगठित करने के लिए 1984 में बहुजन समाज पार्टी का निर्माण किया। डीएस-फ़ोर और बीएस-फ़ोर बसपा से पूर्व की संस्थाएँ थीं।[43]

बसपा के निर्माण की प्रक्रिया में जब कांशीराम ज़मीनी सत्य का आकलन कर रहे थे, उन्होंने एक साइकिल यात्रा की शुरूआत की। उन्होंने पाया कि चमारों का एक समूह अत्यन्त जागरूक था। 1950 में इन चमारों ने एक सामाजिक-राजनैतिक आंदोलन एन.एम.एम. (नारा मवेशी आंदोलन) में सक्रिय भूमिका निभायी थी। उन्हें एक बना-बनाया कैडर मिल गया जिसने आरम्भिक दौर में पार्टी की स्थापना के मिशन में उनका साथ दिया। एन.एम.एम. के कार्यकर्ताओं का काम बसपा को मज़बूत बनाना था। उत्तर प्रदेश में बसपा की स्थापना के दौरान कांशीराम ने कहा कि जो कैडर पार्टी से पूरे समय के लिए जुड़ेंगे उन्हें शिक्षित होना चाहिए। उन्होंने कहा कि स्नातकों के अलावा और किसी को पार्टी में शामिल नहीं किया जाएगा। अपने एक साक्षात्कार के दौरान कांशीराम ने कहा कि ब्राह्मणों के बाद देश में सबसे ज़्यादा शिक्षित चमार हैं।[44] ज़्यादातर चमार चूँकि शिक्षित और नौकरीपेशा हैं, इसलिए उन्होंने पार्टी के एक जागरूक राजनीतिक आधार की स्थापना की। पंजाब से लेकर बिहार तक के चमार बसपा का आधार होंगे। इसी आधार पर उन्होंने कहा कि वे गंगा और यमुना के बीच की ज़मीन को आर्यावर्त से चमारवर्त में बदल देंगे। चमारों को पार्टी में मुख्य दर्जा देते हुए उनकी इच्छा अन्य दलित समुदायों को बसपा से जोड़ने की थी। यह एक उल्लेखनीय बात है कि कांशीराम ने

---

[42] रिपब्लिकन पार्टी गुटबंदी से पीड़ित थी. स्थापना के बाद ही वह अनेक छोटी पार्टियों में बँट गयी.

[43] *सफ़र डीएस-फ़ोर से बीएस-फ़ोर तक,* निसार अहमद क़ुरैशी, बीएस-4, उत्तर प्रदेश इकाई, लखनऊ.

[44] ए.आर. अकेला (2007), *कांशीराम के साक्षात्कार,* मानक पब्लिकेशन प्रा. लि.. दिल्ली : 20.

चमार जाति की एक महिला, मायावती को अपना उत्तराधिकारी बनाया। 80 के मध्य में जब कांशीराम ने बसपा बनायी तो उन्होंने *चमचा युग* के कवच को भेदने पर बल दिया और चमारों को अपनी राजनैतिक जगह बनाने के लिए प्रेरित किया।[45] 1990 में कांशीराम ने चमारों की राजनीति को समझा और उसका सैद्धांतिकीकरण किया। उन्होंने इस बड़े और राजनैतिक रूप से समर्थ सामाजिक समूह को अन्य पार्टियों पर निर्भर होने से रोका जिसका नेतृत्व उच्च और पिछड़े जातियों के नेता करते थे। इस प्रक्रिया के विस्तार में उन्होंने बसपा का गठन किया जिसका नेतृत्व एक चमार महिला मुख्यमंत्री मायावती ने किया।

पिछली बसपा सरकार का अगर हम जाति के आधार पर आकलन करें तो हमें साक्ष्य मिलता है कि उत्तर प्रदेश की राजनीति में अन्य दलित समुदायों की अपेक्षा चमारों का कितना प्रभुत्व है। हमें पता चलता है कि 52 मंत्रियों में सिर्फ़ 8 ग़ैर-चमार थे। एक-एक मंत्री दुसाध, पासी और मल्लाह जातियों से थे। दलित जातियाँ जैसे बसोर, धानुक, वाल्मीकि, डोम, गोंड, कोल, धारिकार, मुसहर, बेलवार, भुईयार, हेला, बैसवार, बॉसफोर, बेरिया, पंखा इत्यादि से दलित मंत्रिमंडल में कोई प्रतिनिधि नहीं था। वास्तव में उत्तर प्रदेश विधानसभा में 403 में से बसपा को कुल 206 सीटें मिलीं जिनमें से 100 बसपा दलित एमएलए हैं। चमारों की भागीदारी का अवलोकन करने पर यह दिखता है कि अधिकतर दलित जातियों को संगठित करने का कार्य नहीं किया गया।

चमारों के आधिपत्य में अनेक महत्त्वपूर्ण पड़ाव हैं जैसे उनकी गतिशीलता, प्रवसन, शिक्षा का प्रसार, आर्थिक बेहतरी, सामुदायिक नेतृत्व का विकास, अस्मिता निर्माण द्वारा आत्मसम्मान की प्राप्ति और अंत में राजनीतिक प्रतिनिधित्व। यद्यपि अन्य दलित समुदायों को लोकतांत्रिक तंत्र, सरकारी नौकरियों और शिक्षा संस्थानों में आरक्षण मिला है, लेकिन राजनीतिक सत्ता की चाभी कभी भी उनके हाथ में नहीं सौंपी गयी, ख़ासकर जब हम सीमांत दलित जातियों की चर्चा करते हैं। हर राजनीतिक पार्टी अनुसूचित जाति पर दया-दृष्टि तो दिखाती है किंतु राजनीतिक शक्तियों के संचालक केवल उच्च जाति के हिंदू प्रभुत्वशाली मध्य वर्ग और चमारों का ही साथ देते हैं।

सीमांत जातियों के मध्य लोकतांत्रिक प्रक्रिया की गतिशीलता के संदर्भ में पाँच महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। प्रथम, ग्रामीण से शहरी क्षेत्रों की ओर प्रवसन के कारण उनका सामना नयी रूपांतरकारी स्थितियों से हुआ। दूसरा, उन्होंने ब्राह्मण व्यवस्था द्वारा निर्धारित नीच कार्य जो उनकी अस्मिता पर धब्बा लगाते हैं, उन्हें छोड़ दिया। तीसरा, उनमें शिक्षा का प्रसार भी हुआ। चौथा, ऐसे सामुदायिक नेताओं का उभरना जो लोकतांत्रिक मूल्यों और आधुनिकता से लैस थे। आख़िरी, जातिगत इतिहास, लोकप्रिय पुस्तिकाओं के रूप में नायक जैसे प्रतीकात्मक चिह्नों द्वारा अपनी अस्मिता को दर्शाना। इन कारकों के कारण एक मध्यम वर्ग का उद्‌भव हुआ जिसके अंदर महत्त्वाकांक्षा जगी। इससे लोकतांत्रिक भागीदारी की राजनीति का बीज पनपा।

फिसड्डी और पीछे रह गये लोग

चमारों की तुलना वाल्मीकियों से करने पर एक रोचक पहलू सामने आता है। उत्तर प्रदेश में हेला (40,678: 0.12 प्रतिशत) और लाल बेगी (299, न्यूनतम प्रतिशत जनसंख्या का) ख़ुद को वाल्मीकि कहते हैं। पारम्परिक तौर पर उन्हें अस्पृश्य का दर्जा दिया जाता है। यह समुदाय तीन तरह के व्यवसाय करने को बाध्य था : शौचालय की सफ़ाई करना, झाड़ू लगाना और मृत पशुओं को हटाना (कभी-

---

[45] कांशीराम (1998), *चमचा युग : ऐन एरा ऑफ़ द स्टूजेज़,* समता प्रकाशन, नागपुर.

कभी मुर्दा लाशों को भी हटाने का कार्य करना पड़ता था)। वे ख़ुद को वाल्मीकि कहना ज़्यादा पसंद करते थे। इन्हें निंदात्मक तौर पर 'सफ़ाई कर्मी' कहा जाता था क्योंकि यह इनका पारम्परिक व्यवसाय था। भंगियों को मानव-मल बाल्टियों में भर कर अपने सिर पर रख कर ले जाना पड़ता था। भारतीय पारम्परिक जाति-व्यवस्था में बच्चे माता-पिता के व्यवसाय को आगे बढ़ाते थे। इसलिए अगर कोई बच्चा भंगी परिवार में जन्म लेता था, तो उसे यह व्यवसाय सिर्फ़ आर्थिक कारणों से करने के लिए बाध्य होना पड़ता था। भारत में स्वच्छता-प्रणाली के सुधार के लिए काफ़ी कार्य किये गये हैं। ऐसे क़ानून बनाये गये हैं जो सूखे शौचालयों के निर्माण और सिर पर मैला उठाने के कार्य पर प्रतिबंध लगाते हैं, परंतु भंगी अब भी अपने पारम्परिक व्यवसाय में लगे हुए हैं और वे सख़्त सामाजिक अवरोधों तथा जातीय भेदभाव के शिकार हैं। वे भूमिहीन कृषि मज़दूर हैं। इनमें हिंदू और मुस्लिम, दोनों आते हैं। चमारों की तरह इनमें गतिशीलता काफ़ी पहले आ गयी थी। इन्होंने अपने भगवान स्वयं बनाये, अपनी धार्मिक जगह का निर्माण ख़ुद किया, वाल्मीकि पट्टी का निर्माण किया, अपने जातिगत इतिहास और नायकों का निर्माण किया।

वास्तव में इन्होंने चमारों के परिपथ का अनुसरण किया। परंतु इन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में अपनी भागीदारी का दावा नहीं किया। वे अन्य राजनीतिक पार्टियों पर विश्वास करते थे और उन पर निर्भर थे, जबकि चमार कांग्रेस पार्टी का समर्थन करने के बावजूद राजनैतिक क्षेत्र में अपनी जगह बनाने का ज़मीनी कार्य कर रहे हैं। उन्होंने ख़ुद की एक राजनीति बनायी जिससे वे अन्य राजनीतिक पार्टियों पर निर्भर न रहें और न उनके संरक्षण में रहें। *चमचा युग* में कांशीराम ने उन्हें दूसरों की निर्भरता से मुक्त होने को कहा और राजनीतिक परिदृश्य में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने पर ज़ोर दिया।

औपनिवेशिक काल में इस समुदाय ने राजनीति में जगह बनाने के लिए ज़्यादा प्रयास नहीं किया। यह एक उल्लेखनीय बात है कि इस समुदाय में बद्री प्रसाद वाल्मीकि नंदा पहले इंसान थे जो वाल्मीकि युवाओं के मध्य शिक्षा का प्रसार करने के लिए आम्बेडकर के पथ पर चले। इलाहाबाद में इन्होंने ऋषिकुल पाठशाला की स्थापना की जिसने अब एक इंटर कॉलेज का रूप ले लिया है। वे अपने समुदाय के लोगों को स्वच्छ जीवन जीने के लिए, गंदा काम त्यागने के लिए और अपने बच्चों को स्कूल भेजने के लिए प्रेरित करने हेतु शहर-शहर घूमते थे।[46] वाल्मीकि नंदा ने स्वयं की राजनीति विकसित करने के लिए प्रयास किया, फिर कांग्रेस से जुड़ गये और हेमवती नंदन बहुगुणा के काफ़ी क़रीब रहे। इस समुदाय ने चमारों के बाद राजनीतिक क्षेत्र में अपनी जगह बनायी और अनुसरण करने के बजाय नेतृत्व करने में वे अब ज़्यादा ख़ुश थे। चमारों के साथ इस स्पष्ट अंतर ने उनके लोकतांत्रिक सशक्तीकरण में सहायता की। चमारों की तरह, वाल्मीकियों ने अपने जातिगत व्यवसाय को नहीं छोड़ा और अपनी सामाजिक मुक्ति की राह को नकारा। वे अन्य पेशों और व्यवसायों में नहीं लगे। इससे उन्हें अस्पृश्यता के दाग़ से मुक्ति नहीं मिली जो कि समाज में समानता पाने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

बहेलिया जाति (118,932, 0.3 प्रतिशत) एक अन्य उदाहरण है, सीमांत समुदायों के मुख्य धारा में न आने का। बहेलिया शिकारियों और चिड़िया पकड़ने वालों का समुदाय है। इनके नाम की उत्पत्ति संस्कृत शब्द 'व्याडका' से हुई है जिसका मतलब है 'जो भेदता है'। यह समुदाय मुख्यत: चिड़िया पकड़ने, मधुमक्खी के छत्ते से शहद निकालने और पंखा बनाने हेतु मोर के पंख इकट्ठा करने का कार्य करता है। यह छ: समूहों में विभाजित है— अहिरिया, गहलोत, सिसोदिया, करौल, पासी और मुस्लिम बहेलिया। दलित समुदाय का होने के कारण वे अक्सर सामाजिक भेदभाव का शिकार

[46] कंवल भारती (1997), *लोकतंत्र में भागीदारी के सवाल,* बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर : 56-57.

होते हैं। उनकी हरेक बस्ती में एक अनौपचारिक जाति समिति, बिरादरी पंचायत होती है। इस समिति में पाँच सदस्य होते हैं जिनका चुनाव उस समुदाय के सदस्य करते हैं। पंचायत सामाजिक नियंत्रण के यंत्र के रूप में कार्य करती है और तलाक़ और धोखाधड़ी जैसे मुद्दों को सुलझाती है। पंचायत ने वाचाल सामुदायिक नेताओं का निर्माण किया है जो अपने समुदाय के सुधार के लिए अन्य राजनीतिक पार्टियों को प्रभावित करते हैं। 8 मई 1997 को एक सामुदायिक नेता एम.ए.ए. फ़ातमी ने संसद में चिड़ियों को पकड़ने, शिकार करने और बेचने पर प्रतिबंध लगाने के मुद्दे को उठाया। बहेलिया समुदाय ने इस क़दम का विरोध किया।[47]

यह दर्शाता है कि विद्रोह और राजनीति के बीज इनमें मौजूद हैं। वास्तव में अगर वे अपने पारम्परिक व्यवसायों में ही लगे रहे तो वे सिर्फ़ जंगलों से ही बँध कर रह जाएँगे। वे प्रवसन नहीं कर पाएँगे जो कि उनके राजनीतिक सशक्तीकरण के लिए अत्यंत ज़रूरी है। इस समुदाय ने जंगली जानवरों के पकड़ने और शिकार और चिड़िया बेचने पर प्रतिबंध लगाने का विरोध किया। वे अपने पारम्परिक पेशे की ज़ंजीरों से मुक्त होने के लिए तैयार नहीं हैं जिससे उनका आर्थिक सुधार नहीं हो पा रहा है और एक बेहतर और सम्मानजनक जीवन जीने से वे वंचित हैं। यह समुदाय जिस कोमा में जी रहा है शायद उससे बाहर आ सके अगर वे अपने समुदाय को पुनः स्थापित करने के लिए सक्रिय क़दम उठाएँ। उनकी उन्नति तभी हो पायेगी जब वे शिक्षित होंगे और अपनी अस्मिता का दावा समाज में करेंगे। उन्हें अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं को आवाज़ देनी पड़ेगी।[48]

राजनीतिक सशक्तीकरण प्रवसन, गतिशीलता, शिक्षा और सामाजिक-आर्थिक सुधार की आकांक्षा द्वारा ही हो सकता है। यदि इनमें से कोई भी कड़ी छूटेगी तो लोकतांत्रिक दृश्यता कम होगी। कुछ सीमांत दलित समुदाय इस तथ्य को समझ गये हैं और चमारों द्वारा प्रशस्त मार्ग पर ही चल रहे हैं। वे इन अनुभवों को लोकतांत्रिक भागीदारी और अपने आत्मसम्मान और आत्मविश्वास को बढ़ाने के लिए उपयोग कर रहे हैं। एक ऐसा ही उदाहरण है सीमांत जोगी समुदाय का जिनकी संख्या इतनी कम है कि वे उत्तर प्रदेश की 66 अनुसूचित जातियों की सूची में भी नहीं आते। लेकिन हाल के समय में स्थानीय शासन में उन्हें कुछ चुनावी फ़ायदे हुए हैं और अब वे आर्थिक सशक्तीकरण की राह पर चल रहे हैं। आधिपत्य हासिल करने हेतु वे चमारों के परिपथ का ही अनुसरण कर रहे हैं।

जोगी[49] जाति एक अत्यंत पिछड़ा दलित समुदाय है जिसका पेशा ही भीख माँगना है। जोगी हिंदू साधु हैं जबकि वे जोगी जो इस्लाम को मानते हैं, फ़क़ीर कहलाते हैं। इनमें भी हिंदू संस्कृति का मज़बूत असर देखा जा सकता है।[50] यह जाति उत्तर प्रदेश के फ़ैज़ाबाद, जौनपुर, सुलतानपुर और वाराणसी ज़िलों में पायी जाती है और मुस्लिम जनसंख्या का 40 प्रतिशत है।[51]

जोगी स्वयं को ब्राह्मण से ज़्यादा श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि वे दावा करते हैं कि भगवान शिव उनके समुदाय के हैं। अन्य समुदाय उन्हें निचला दर्जा देते हैं। लोग सिर्फ़ उस आदमी का सम्मान करते हैं जो जोगी है, और उसके सम्पूर्ण परिवार का नहीं। हिंदू जोगी मुख्यतः दो उप-जातियों, कनफटा और औघड़ में बँटे हैं। कनफटा औघड़ से ज़्यादा ऊँची जाति होने का दावा करते हैं। शादी के लिए

---

[47] वही : 137.

[48] वही : 138.

[49] यद्यपि 1981, 1991 एवं 2001 की जनगणना में रंगरेज़ और जोगी जातियों की कोई चर्चा नहीं है, पर के.एस. सिंह की किताब में इनके बारे में चर्चा की गयी है.

[50] वही : 82.

[51] बी. नारायण (1958): 60.

इन दोनों समूहों में कोई भेदभाव नहीं है। जो जोगी उच्च जातियों से हैं वे नीची जातियों का भोजन नहीं लेते। वे पके भोजन को भिक्षा के रूप में स्वीकार नहीं करते। लेकिन ब्राह्मणों द्वारा पकाया खाना स्वीकार कर लेते हैं। परंतु वे जोगी जो निचली जातियों से आते हैं, वे कुरमी, कुम्भी और माली जैसी सभी जातियों का पका भोजन स्वीकार कर लेते हैं।

उपसंहार

दलितों के संदर्भ में लोकतंत्र के विस्तार का अर्थ है कि चार महत्त्वपूर्ण दलित जातियों की तरह 62 अन्य दलित जातियाँ भी शक्तिवान हो पातीं। लेकिन इनमें से ज़्यादातर आज भी लोकतांत्रिक फलक पर अदृश्य समूह के रूप में मौजूद हैं। दलितों के इन अदृश्यमान समूहों को उनकी उपस्थिति का एहसास कराने की ज़रूरत है और यह तभी सम्भव है, जब वे अपने भीतर आकांक्षा पैदा करें। लोकतंत्र में आकांक्षा के लिए ज़रूरी है कि वे अपनी अस्मिता तो विकसित करें ही साथ ही साथ अपनी उपस्थिति की राजनीति को ज़्यादा प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करें।

लोकतंत्र का नैतिक पक्ष यह है कि वह उपेक्षितों में भी उपेक्षित तक पहुँचे। धीरे-धीरे ही सही, पर वह सबसे अंतिम आदमी को शक्तिमान करता है। होना यह चाहिए था कि यह प्रक्रिया समाज के अंतिम आदमी से शुरू होती और शक्तिमान समुदायों तक पहुँचती। लेकिन हो रहा है इसका उलटा। लोकतंत्र शक्तिमान समुदायों से होकर उपेक्षितों तक पहुँच रहा है जिसमें उपेक्षितों में उपेक्षित का ज़्यादा अंश रास्ते में ही शक्तिवान समूह लूट ले रहे हैं। दूसरा, दलित आंदोलन की नैतिकता यह है कि वह अपने कमज़ोर और उपेक्षित समूहों को लोकतंत्र और विकास के फलक में समाहित करें और विकास के संसाधन को, जिन पर उनका अधिकार हो चुका है, अपने ग़रीब भाइयों में वितरित करें। दलित राजनीति को सतत तीक्ष्ण और गतिमान बने रहना होगा जिसमें लगातार लघु से लघुतर समूहों को जगह और प्रतिनिधित्व मिलता रहे।

लोकतंत्र का यह भिखारी गीत अत्यंत मर्मस्पर्शी है। वह लोकतंत्र में अपने स्वीकार्य के लिए विनती कर रहा है। साथ ही एक समूह के रूप में अपनी उपस्थिति का भान भी करा रहा है। लोकतांत्रिक फलक पर इसकी अनुपस्थिति इतनी ज़्यादा है कि जनगणना रिपोर्ट में भी इनकी जगह इनकी मूल अस्मिता के रूप में नहीं है। यह निष्कासित और उपेक्षित भावों से भरे हुए समूह के रूप में हमारे लोकतंत्र के समाने चुनौती के रूप में उपस्थित है।

संदर्भ

अर्जुन अप्पादुरै (2004), 'दि कैपेसिटी टु ऐस्पायर : कल्चर एण्ड दि टर्म्स ऑफ़ रिकॉग्निशन इन कल्चर एण्ड पब्लिक एक्शन', विजयेंद्र राव और माइकल वॉल्टन (सम्पा.), *कल्चर एण्ड पब्लिक ऐक्शन,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

आर.के. क्षीरसागर (1992), *पॉलिटिकल थॉट ऑफ़ डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर,* इंटलेक्चुअल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

—— (1994), *दलित मूवमेंट इन इंडिया एण्ड इट्स लीडर्स,* एम.डी. पब्लिकेशन, दिल्ली.

ई. सेनार्ट (1930), *छांदोग्य उपनिषद, ट्रांसलेशन एण्ड कमेंट्री,* ल बेल लेटर्स, पेरिस.

ई. हूल्त्ज़ और लेपज़िग (सम्पा.) (1884), *बौधायन धर्मसूत्र.*

ए.सी. ग्रेलिंग (2008), *दि ब्रिटेनिका गाइड टू दि आइडियाज़ दैट मेड दि मार्डन वर्ल्ड,* रॉबिंसन पब्लिशिंग, यूके.

एल.एस. वासुदेव पनिस्कर (सम्पा.) (1912), *वाजनेई संहिता.*

ए.एस. स्ट्रेंगलर (सम्पा.) (1876), *गौतम धर्मसूत्र,* ए.एफ. स्टेंग्लर, लंदन.

ऐन. कालट्राइ (2010), *व्हाई वायस मैटर्स : कल्चर एण्ड पॉलिटिक्स आफ़्टर नियोलिबरलिज़्म,* सेज, नयी दिल्ली.

एम. लायंच ओवेन (1974), *दि पॉलिटिक्स ऑफ़ अनटचेबिलिटी,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

ऐन. गुप्तू (2006), *स्वामी अछूतानंद एण्ड दि आदि हिंदू मूवमेंट,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ए.आर. अकेला (2007), *कांशीराम के साक्षात्कार,* मानक पब्लिकेशन प्रा. लि., दिल्ली.

ओमप्रकाश वाल्मीकि (1997), *जूठन,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

कांशीराम (1998), *चमचा युग : ऐन एरा ऑल दि स्टूजिज़,* समता प्रकाशन, नागपुर.

के. भारती (1997), *लोकतंत्र में भागीदारी के सवाल,* बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर.

के.बी. शर्मा (1958), *मार्केटिंग ऑफ़ लेदर गुड्स ऐट आगरा,* अनपब्लिश्ड मास्टर्स थीसिस, डिपार्टमेंट ऑफ़ कॉमर्स, बलवंत राजपूत कॉलेज, आगरा.

केविन रड (2008), *अपॉलॅजी टु ऑस्ट्रेलियाज़ इंडीजेनस पीपुल्स, हाउस ऑफ़ रेप्रज़ेंटेटिव्ज़,* ऑफ़िशियल हैंडसार्ड नं 1, http://www.aph.gov.au/hansard/reps/dailys/dr130208.pdf

के.एस. सिंह (1998), *इंडियाज़ कम्युनिटीज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

—— (सम्पा.) (2005), पीपुल ऑफ़ इंडिया : उत्तर प्रदेश, एंथ्रॉपोलॅजीकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, भाग 1-3, मनोहर पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.

गेल ओम्वेट (1994), *दलित एण्ड दि डेमॉक्रैटिक रेवॉलूशन : डॉ. आम्बेडकर एण्ड दि दलित मूवमेंट्स इन कोलोनियल इंडिया,* सेज, नयी दिल्ली.

जे. क्लार्क (2008), *अबॉरिजिंस एण्ड एक्टिविज़्म : रेस, एबोरिजिंस एण्ड दि कनिंग ऑफ़ दि सिक्सटीज़ टू ऑस्ट्रेलिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ वेस्ट ऑस्ट्रेलिया प्रेस।

जार्ज वेस्टन ब्रिग्स (1920), *दि चमार्स,* एसोसिएटिड प्रेस, कलकत्ता.

डी.आर. नागराज (2010), *दि फ्लेमिंग फ़ीट एण्ड अदर एजेज़,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

डी.के. सिंहराय (2012), 'डिवेलपमेंट, इनवायरनमेंट एण्ड इंडीजेनस पीपुल्स मूवमेंट इन ऑस्ट्रेलिया : इशूज़ ऑफ़ ऑटोनॅमी एण्ड आइडेंटिटी', *कॉस्मोपोलिटन सिविल सोसाइटी जरनल,* खण्ड 4, अंक 1.

पैट्रिक आलिविले (2005), *मनुज़ कोड ऑफ़ लॉ : अ क्रिटिकल एडिशन एण्ड ट्रांसलेशन ऑफ दि मानव-धर्मशास्त्र,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड.

प्रसन्न कुमार चौधरी और श्रीकांत (2005), *स्वर्ग पर धावा : बिहार में दलित आंदोलन (1912-2000),* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

बी. नारायण (2006), *वुमॅन हीरोज़ एण्ड दलित एसर्शन इन नॉर्थ इंडिया : कल्चर, आइडेंटिटी एण्ड पॉलिटिक्स,* सेज, नयी दिल्ली : 37.

'बसपा ने दलितों की एकता तोड़ी', *हिंदुस्तान* (2011), इलाहाबाद, 25 मई.

बी.आर. आम्बेडकर (1989), *राइटिंग्ज़ एण्ड स्पीचेज़ ऑफ़ डॉ. बी.आर. आम्बेडकर,* डिपार्टमेंट ऑफ़

एजुकेशन, बंबई, महाराष्ट्र सरकार.

बौद्धाचार्य एस.राव संजीवन नाथ से लेखक का साक्षात्कार, इलाहाबाद, 12 जुलाई, 2006.

शरण कुमार लिम्बाले (1991), *अक्करमाशी*, ग्रंथ एकेडमी, नयी दिल्ली.

श्योराज सिंह बेचैन (1997), *हिंदी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार आम्बेडकर का प्रभाव*, समता प्रकाशन, दिल्ली.

सेंसस ऑफ़ इंडिया (2001), प्राइमरी सेंसस एब्सट्रैक्ट, खण्ड 1, शृंखला 10, उत्तर प्रदेश डायरेक्टरेट ऑफ़ सेंसस ऑपरेशन.

सफ़र डीएस-फ़ोर से बीएस-फ़ोर तक, निसार अहमद क़ुरैशी, बीएस-4, उत्तर प्रदेश इकाई, लखनऊ.